प्रकाशक नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मुद्रक शम्भुनाथ वाजपेयी, राष्ट्रभाषा मुद्रण, काशी

तृतीय संस्करण . संवत् २०३२ : प्रतियाँ ११००

मूल्य . [illegible]

प्रकाशकीय वक्तव्य

'पुरानी हिंदी' का यह पुनर्मुद्रित संस्करण है। अपने संकल्पानुसार एक युग व्यतीत हो जाने पर भी इसका इच्छित संस्करण हम प्रस्तुत नहीं कर सके, इसका हमें हार्दिक खेद है।

इस ग्रंथ की अनिवार्य आवश्यकता ने हमें बाध्य कर दिया कि इसी रूप में ही सही इसे पुनः मुद्रित करा लिया जाय ताकि इसकी अनुपलब्धि विशेष कष्ट का कारण न बने। हम विश्वास दिलाना चाहते हैं कि शीघ्र ही हम इसका इच्छित संस्करण प्रस्तुत कर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करेंगे।

शिवरात्रि, सं० २०३२ वि०

सुधाकर पांडेय
प्रधान मंत्री
ना० प्र० सभा, काशी

विषय सूची

———

वक्तव्य

'पुरानी हिंदी' नाम बहुत सोच-विचारकर प्रयुक्त किया गया है, पुरानी बँगला, पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी मराठी आदि प्रयोगों का भ्रम मिटाने के लिये। जैसे व्रजभाषा के सर्वसामान्य भाषापद पर आरूढ होने पर उसका प्रयोग प्रत्येक प्रांत के निवासी करने लगे और अपने प्रांत के प्रयोग जाने-अनजाने उसमें रख चले पर रीढ व्रजभाषा ही रही, वैसे ही स्थिति अपभ्रंश की भी थी। जिस प्रकार नानकजी की भाषा पंजाबीपन लिए हुए है, श्रीभारतीचंद्र की बँगलापन, समर्थ गुरु रामदास की मराठीपन, मीरां की गुजराती-राजस्थानीपन, पर है वह व्रभाषा ही, उसी प्रकार जिसे 'पुरानी हिंदी' कहा गया है वह हिंदी ही है, पर उस सोपान तक पहुँचकर प्रांतीय रूप कुछ कुछ और कहीं कहीं परिस्फुट होने लगे थे। जिसे वैयाकरण अपभ्रंश कहते हैं वस्तुत उसके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दो स्पष्ट स्वरूप भेद है। पूर्ववर्ती अपभ्रंश तो प्राकृत से मिलता जुलता है और उत्तरवर्ती हमारी हिंदी से। उत्तरवर्ती अपभ्रंश मे सर्वसामान्य भाषा का रूप ही न रह गया हो, ऐसा नही है। उसे 'प्राकृतपैंगलम्, की टीकाओ मे 'अवहट' भी कहा गया है। विद्यापति ठाकुर ने भी अपनी कीर्तिलता की भाषा का नाम 'अवहट्ट' ही दिया है—

देसिल वअना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जपओ अवहट्टा।

कीर्तिलता मे अपभ्रंश की सर्वसामान्य प्रवृत्ति के साथ साथ पूरबीपन की भी झलक यत्र तत्र मिलती है। 'अवहट्ट' का एक नाम 'पिंगल' भी है। राजस्थान मे प्रांतीय भाषा का नाम 'डिंगल' और सर्वनिष्ठ भाषा का नाम 'पिंगल, था। उसे 'पिंगल' (अपभ्रंश) कहने का हेतु उसमे उत्तरवर्ती अपभ्रंश के रूपों और प्रयोगो का ग्रहण ही था। राजस्थान की 'पिंगल भाषा' व्रजभाषा ही है पर उसमे व्रजभाषा के परवर्ती विकसित रूपो के साथ साथ पुराने प्राकृताभास और अपभ्रंशानुरूप शब्दो और प्रयोगो का आग्रह बराबर रहता था। 'प्राकृतपैंगलम्' मे दिए हुए उदाहरणो के साथ राजस्थान मे प्रचलित 'पिंगल भाषा' की रचना को मिलाने से यह धारणा बहुत स्पष्ट हो जाती है। भिखारीदास जी ने 'काव्य-निर्णय' मे जो व्रजभाषा मे मिश्रित होनेवाली भाषाओं के प्रसग मे 'नाग जवन

भाषानि' लिखा है, उसमे 'नाग' भाषा का तात्पर्य 'पिंगल भाषा' ही है 'पिंगलाचार्य' शेषनाग के अवतार भी तो माने जाते हैं। गुलेरीजी ने 'पुरानी हिंदी' नाम देकर बात बहुत सटीक कह दी। हिंदी किस प्रकार पारंपरिक सार्वदेशिक भाषा का स्थान ग्रहण करती हुई आगे बढी इसका बहुत स्पष्ट ज्ञान इस पुस्तक मे उद्धृत अवतरणो से हो जाता है। इसके समन्वय के लिये उन्होने स्थान-स्थान पर प्रातीय भाषाओ, ब्रजभाषा के सर्वसामान्य रूपो, प्रयोगो आदि के शब्द-प्रतिशब्द उद्धरण भी बराबर दिए है। हिंदी की सार्वदेशिक या राष्ट्रीय प्रवृत्ति और प्रकृति का अनुशीलन करने के लिये यह प्रबध बडे काम का है

इस सोपान पर आकर 'पुरानी हिंदी' मे किस प्रकार प्रादेशिक प्रवृत्तियाँ स्फुट हो चली थी इसका परिचय इसी प्रबध के आधार पर स्वर्गीय आचार्य रामचद्र जी शुक्ल ने अपने 'बुद्धचरित' की भूमिका मे दिया है और हिंदी की तीनो प्रधान उपभाषाओ--ब्रज, अवधी और खडी--का पार्थक्य स्पष्ट किया है। यद्यपि अपभ्रश की बहुत सी सामग्री इधर उपलब्ध हो गई है पर इसके जोड़ का दूसरा प्रबध आज तक प्रस्तुत नही हुआ।

'पुरानी हिंदी' गुलेरीजी का वही प्रबध है जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका के नवीन सस्करण, भाग २ मे प्रकाशित हुआ था। सभा से जो 'गुलेरी-ग्रथ' प्रकाशित हो रहा है उसी के द्वितीय खड मे यह प्रबध प्रकाशित होता और होगा भी। 'गुलेरी ग्रथ' के सुयोग्य सपादक श्री कृष्णानद जी सहसा अस्वस्थ हो गए और अब तक वे पूर्णतया प्रकृतिस्थ नही हो सके। इसी से उसके प्रकाशन मे कुछ विलब है। इधर अनेक विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे नियत होने के कारण इस प्रबध की माँग बहुत थी। विचार था कि इसमे उद्धृत अपभ्रश या अवहट्ट के अवतरणो की वैज्ञानिक टीका-टिप्पणी कराकर जोड दी जाय। पर माँग इतनी अधिक हो गई कि इसे पृथक् पुस्तिका के रूप मे ज्यो का त्यो तुरत मुद्रित कर देना ही श्रेयस्कर समझा गया। यत्र तत्र जो दो चार छापे की अशुद्धियाँ थी उन्ही का सशोधन कर दिया गया है। आशा है हम बहुत शीघ्र इसका इच्छित सस्करण भी निकाल सकेंगे।

वासतिक नवरात्र,
स० २००५ वि०

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
(साहित्य-मंत्री)

पुरानी हिंदी

—०—

हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा मे मिलता है उसे सस्कृत कहते हैं, परंतु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यो की मूल भाषा नही हैं। वह मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'सस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नही बच रहा है। यह मानो गगा की नहर है, नरौने के बाँध मे उसमे सारा जल खैच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारो पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढे-मेढे किनारो वाली, छोटी बडी, पथरीली, रेतीली नदियो का पानी मोडकर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन भाषा प्रेमियो ने पुरानी नदियो का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिये कैसा कुछ आदोलन मचाया या नही मचाया, यह हम जान नही सकते। सदा इस सस्कृत नहर को देखते देखते हम असस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियो को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छद होकर समतल, और सूत से नपे हुए किनारो को छोडकर जल स्वभाव से कही टेढा कही सीधा, कही गँदला, कही निखरा, कही पथरीली, कही रेतीली भूमि पर और कही पूराने सूखे मार्गो पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति—[हेमचद ने अपने प्राकृत व्याकरण का आरभ ही यो किया है कि सस्कृत प्रकृति है, उससे आया इसलिये प्राकृत कहलाया] यह नही कि नदी अब सुधारको के पजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढा सकते है। सभव है कि हमे इसका फिर भी काम पडे। वेद या छदस् की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना सस्कृत से नही। सस्कृत मे छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्गक्रम यह है—

१—मूल भाषा २—छदस् की भाषा, < ३—प्राकृत—५—अपभ्रंश / ४—सस्कृत

सस्कृत अजर अमर तो हो गई किंतु उसका वश नही चला, वह कलमी पेड था। हाँ, उसकी सपत्ति से प्राकृत और अपभ्रश और पीछे हिंदी आदि भाषाएँ पुष्ट होती गई और उसने भी समय समय पर इनकी भेट स्वीकार की।

वैदिक (छदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत मे बहता गया और सस्कृत मे बँध गया। इसके कई उदाहरण हैं—(१) वेद मे देवा और देवास दोनो है, सस्कृत मे केवल 'देवा.' रह गया और प्राकृत आदि मे 'आसस्' (दुहरे 'जस्') का वश 'आओ' आदि मे चला, (२) देवै. की जगह देवेभि (अधरेहिं) कहने की स्वतन्त्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) मे मिली, सस्कृत को नही; (३) सस्कृत मे तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम मे ही बँध गया, किंतु प्राकृत मे 'म्मि,' 'म्हि', होता हुआ हिंदी मे 'मे' तक पहुँचा, (४) वैदिक भाषा मे षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतन्त्रता थी वह प्राकृत मे आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उडा गई, किंतु सस्कृत मे दोनो पानी उतर जाने पर चट्टानो पर चिपटी हुई काई की तरह, जहाँ की तहाँ रह गई, (५) वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत मे जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रश मे एक विभक्ति 'हं' 'हुँ' 'हीं', बहुत से कारको का काम देने लगी, सस्कृत की तरह लकीर ही नही पिटती गई, (६) सस्कृत मे पूर्वकालिक का एक 'त्व.' ही रह गया और य भिच गया इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतन्त्रता से आगे बढ आए (देखो, आगे)। (७) क्रियार्थी क्रिया (Infinitive of purpose) के कई रूपो मे से (जो धातुज शब्दो के द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप है) सस्कृत के हिस्से मे 'तुम' ही आया और इधर कई, (८) कृ धातु का अनुप्रयोग सस्कृत मे केवल कुछ लम्बे धातुओ के परोक्ष भूत मे रहा, छदस् की भाषा मे और जगह भी था, किंतु अनुप्रयोग का सिद्धात अपभ्रश और हिंदी तक पहुँचा। यह विषय बहुत ही बढाकर उदाहरणो के साथ लिखा जाना चहिए, इस समय केवल प्रसग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है।

अस्तु। अकृत्रिम भाषाप्रवाह मे (१) छदस् की भाषा, (२) अशोक की धर्मलिपियो की भाषा, (३) बौद्ध ग्रथो की पाली, (४) जैन सूत्रो की मागधी, (५) ललितविस्तर की गाथा या गडबड सस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखो और सिक्को की अनिर्दिष्ट

प्राकृत ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्द्धमागधी कही गई है। उसे आर्ष प्राकृत भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देश भेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छाँट की, किंतु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे[1]। जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख कर चुके हैं वे देश-भेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अंतर्भूत नहीं हो सकते। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है। शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहाँ दो बातें और देख लेनी चाहिएँ। एक तो जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत व्याकरण केवल संस्कृत शब्दों के उच्चारण में क्या क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्यासूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर, प्राकृत व्याकरण के नियमों से त की जगह य और क्ष की जगह ख, रखकर, साँचे पर जमाकर, गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाविरों का नियमानुसार किया हुआ रूपांतर है, प्राकृत भाषा नहीं। हाँ, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल की प्राकृत रचना, देशभेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में, शौरसेनी पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गईं, जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उनपर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई। प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचनकर उसी को आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अंतर तो उसी

---

१. हेमचंद्र ने 'जिणिंदाण वाणी' को देशीनाममाला के आरंभ में 'असेसभ सपरिणामिणी' कहकर वंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है—

देवा दैवी नरा नारी शवराश्चापि शार्वरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्ची मेनिरे भगवद्गिरम्॥

के अपवादो की तरह लिखा है। या यो कह दो कि देश-भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृतसाहित्य की प्राकृत एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम 'प्राकृत और सूक्ति-रत्नो का सागर' कहलाई। राजाओ ने उसकी कदर की। हाल (सात वाहन) ने उसके कवियो की चुनी हुई रचना की सतसई बनाई, प्रवरसेन ने सेतुवध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुँचाई, वाक्पति ने उसी मे गौडवध किया, किंतु यह पडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नही। जैनो ने धर्मभाषा मानकर उसका स्वतन्त्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन रचनाओ मे ही शुद्ध मिलती है। और छदो के होने पर भी जैसे सस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुप् छदो का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लवे छद प्राकृत मे आए कि सस्कृत की परछाई स्पष्ट देख पडी। प्राकृत कविता का आसन ऊँचा हुआ। यह कहा गया है कि देशी शब्दो से भरी प्राकृत कविता के सामने सस्कृत को कौन सुनता है[1] और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी सस्कृत के समान ही स्वतन्त्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठी और सस्कृत को कठोर कह डाला।[2]

शौरसेनी और पैशाची (भूतभाषा)

इन प्राकृतो के भेदो[3] मे से हमे शौरसेनी और पैशाची का देशनिर्णय करना है। यद्यपि ये दोनो भाषाएँ मागधी और महाराष्ट्री से दब गई थी और इनका विवेचन व्याकरणो मे गौण या अपवाद रूप से ही किया गया है तथापि

---

१. ललिए महुरक्खरए जुवईयणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कय पढिउ ॥ (वज्जालग्ग, २९)
[ललित, मधुराक्षर, युवतीजनवल्लभ, सश्रृगार प्राकृत कविता के होते हुए सस्कृत कौन पढ सकता है ?]

२. परुसा सक्कअवधा पाउअवधो वि होइ सुउमारो।
पुरुष महिलाण जेत्तिअमिहन्तर तेत्तियमिमाण ॥ (कर्पूरमजरी)
[सस्कृत की रचना परुप और प्राकृतरचना सुकुमार होती है, जितना पुरुष और स्त्रियो मे अतर होता है उतना इन दोनो मे है।]

३. अगले लेखो मे इस विषय पर कुछ और आता जायगा।

हिंदी से इनका बडा सबध है। शौरसेनी तो मथुरा ब्रजमडल आदि की भाषा है। इसमे कोई बडा स्वतत्र ग्रथ नहीं मिलता किंतु इसका वही क्षेत्र है जो ब्रजभाषा, खडी बोली और रेखते की प्रकृत भूमि है। पैशाची का दूसरा नाम भूतभाषा है। यह गुणाढ्य की अदभुतार्था बृहत्कथा मे अमर हो गई है। वह 'वड्डकथा' अभी नहीं मिलती। दो कश्मीरी पडितो (क्षेमेंद्र और सोमदेव) के किए उसके सस्कृत अनुवाद मिलते हैं। (बृहत्कथामजरी और कथासरित्सागर) कश्मीर का उत्तरी प्रात पिशाच (पिश = कच्चा मास, अश् = खाना) या पिशाश् देश कहलाता था और कश्मीर ही मे बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से पैशाची वहाँ की भाषा मानी जाती थी। किंतु वास्तव मे पैशाची या भूतभाषा का स्थान राजपूताना और मध्यभारत हैं। मार्कण्डेय ने प्राकृत व्याकरण मे बृहत्कथा को केकयपैशाची मे गिना है। केकय तो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रात है। सभव है कि मध्यभारत की भूतभाषा की मूल बृहत्कथा का कोई रूपातर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियो के सस्कृतानुवाद हुए हैं[1]। राजशेखर ने, जो विक्रम सवत् की दशवी शताब्दी के मध्य भाग मे था, अपनी काव्यमीमासा मे एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमे उस समय के भाषानिवेश की चर्चा है—'गौड (बगाल) आदि सस्कृत मे स्थित हैं, लाट-देशियो की रुचि प्राकृत मे परिचित है, मरुभूमि, टक्क (टांक दक्षिणपश्चिमी पजाब) और भादानक[2] के वासी अपभ्रश प्रयोग करते हैं, अवती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चवल का निकास) और दशपुर (मदसोर) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते है, जो कवि मध्यदेश मे (कन्नौज, अतर्वेद पचाल आदि) रहता है वह सर्वभाषाओ मे स्थित है।' राजशेखर को भूगोल विद्या से बडी दिलचस्पी थी। काव्यमीमासा का एक अध्याय का अध्याय भूगोल-वर्णन को देकर वह कहता है कि विस्तार देखना हो तो मेरा बनाया भुवनकोश देखो। अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय (कन्नौज) का उसे बडा प्रेम था। कन्नौज और पाचाल की उसने जगह जगह पर बहुत बडाई की है। महोदय (कन्नौज) को मानो भूगोल का केंद्र माना है, कहा है दूरी की नाप महोदय से

---

१ लाकोटे, वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ६४, पृष्ठ ६५ आदि।

२ बीजोल्यां के लेख मे भी भादानक का उल्लेख है, यह प्रात राजपूताने मे ही होना चाहिए।

ही की जानी चाहिए, पुराने आचार्यों के अनुसार अतर्वेदी से[1] नही। इस महोदय की केंद्रता को ध्यान मे रखकर उसका बताया हुआ राजा के कवि-समाज का निवेश बडा चमत्कार दिखाता है। वह कहता है कि राजा कवि-समाज के मध्य मे बैठे, उत्तर को सस्कृत के कवि (कश्मीर पाचाल) पूर्व को प्राकृत (मागधी की भूमि मगध), पश्चिम को अपभ्रश (दक्षिणी पजाब और मरुदेश) और दक्षिण को भूतभापा (उज्जैन, मालवा आदि) के कवि बैठे।[2] मानो राजा का कविसमाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र हुआ। यो कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अतर्वेद, पाचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवती, पारियात्र और दशपुर—शौरसेनी और भूतभापा के स्थान थे।

अपभ्रश

बाँध से बचे हुए पानी की धाराएँ मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थी। उनमे देशी की धाराएँ भी आकर मिलती गई। देशी और कुछ नही, बाँध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी मार्ग पर चला आया, बाँधा न गया। उसे भी कभी कभी छानकर नहर मे ले लिया जाता था। बाँध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नही रही। राजशेखर ने 'सस्कृत वाणी को सुनने योग्य' प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है।'[3] इन विशेषणो की साभिप्रायता विचारने योग्य है। वह यह भी कहता है कि कोई बात एक भाषा मे कहने से अच्छी लगती है, कोई दूसरी में, कोई दो तीन मे।[4] उसने काव्यपुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमे सस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रश को जघनस्थल, पैशाच को पैर और मिश्र को उरु कहा है। विक्रम की सातवीं

---

१ विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्या। तत्रापि महोदय मूलमवधीकृत्य इति यायावर.।

(काव्यमीमासा, पृ० ९४)

२. काव्यमीमासा, पृ० ५४–५५।

३. बालरामायण।

४. काव्यमीमासा, पृ० ४८।

शताब्दी से ग्यारहवी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी मे परिणत हो गई । इसमे देशी की प्रधानता है। विभक्तियाँ घिस गई है, खिर गई है, एक ही विभक्ति हैं, या आहें कई काम देने लगी हैं। एक वाक्य की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियो के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्तविभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियाँ नही है। क्रियापदो मे मार्जन हुआ। हाँ, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नही लिए, किंतु धनवती अपुत्रा मौसी से भी कई तत्सम पद लिए[1]। साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहाँ गत भी गय और गज भी गय, काच, काक, काय = (शरीर) कार्य सबके लिये काय। इसमे भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थबोध—का व्याघात होता था। अपभ्रंश मे दोनो प्रकार के शब्द मिलते है। जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदो के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है। मार्कंडेय ने एक 'नागर' अपभ्रंश की चर्चा की है जिसका अर्थ नगरवासी 'चतुर, शिक्षित, गँवई से विपरीत) लोगो की भाषा, या गुजरात के नागर ब्राह्मणो या नगर (वडनगर, वृद्ध नगर) के प्रात की भाषा हो सकती है। गुजरात की अपभ्रंशप्रधानता की चर्चा आगे है। किंतु उसके उस नगर का वडनगर या नगर नाम प्राचीन नही है इसलिए 'नगर की भाषा' अर्थ मानने पर मार्कंडेय के व्याकरण की प्राचीनता मे शंका होती है।

राजशेखर ने काव्यमीमासा मे कई श्लोक दिए है जिनमे वर्णन किया है कि किस देश के मनुष्य किस तरह संस्कृत और प्राकृत पढ़ सकते है। यहाँ इस पाठशैली के वर्णन की चर्चा कर देनी चाहिए। यह वर्णन रोचक भी है और कई अंशो मे अबतक सत्य भी। उच्चारण का ढग भी कोई चीज है। वह

---

१ तद्भव प्रयोगो के अधिक घिस जाने पर भाषा मे एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समो का प्रयोग करने की टेव पड जाती है। हिंदी मे अब कोई जस या गुनवत नही लिखता यश और गुणवान् लिखते है। चोंने चाहे तरो, परसोतम् और हरकिसुन, लिखेंगे तरह, पुरुषोत्तम और हरकृष्ण।

कहता है कि काशी से पूर्व की ओर मगध आदि देशो के वासी हैं वे संस्कृत ठीक पढते हैं किंतु प्राकृत भाषा मे कुंठित हैं। बगालियो की हँसी मे उसने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमे सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि मैं बाज आई, मैं इस्तीफा पेश करती हूँ, या तो गौड लोग गाथा पढना छोड दें, या कोई दूसरी ही सरस्वती बनाई जाय[1]।

गौड देश मे ब्राह्मण न अनिस्पष्ट, न अश्लिष्ट, न रूक्ष, न अति कोमल, न मद और न अतिसार स्वर से पढते हैं। चाहे कोई रस हो, कोई रीति हो, कोई गुण हो, कर्णाट लोग घमड से अंत मे टकारा देकर पढते हैं। गद्य पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो द्रविड कवि गा कर ही पढेगा। सस्कृत के द्वेषी लाट प्राकृत को ललित मुद्रा से सुदर पढते हैं। सुराष्ट्र[2], त्रवण[3] आदि सस्कृत मे अपभ्रश के अश मिलाकर एक ही तरह पढते हैं। शारदा के प्रसाद से कश्मीरी सुकवि होते हैं किंतु उनका पाठक्रम क्या है कान मे मानो गिलोय की पिचकारी है। उत्तरापथ के कवि बहुत संस्कार होने पर भी गुन्ना (नाक मे) पढते हैं। पाचाल देशवालो का पाठ तो कानो मे शहद बरसाता है उसका कहना ही क्या[4]।

पुरानी अपभ्रंश सस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से। हम ऊपर दिखा चुके है कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि

---

१ ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वा स्वाधिकारजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ॥

२ सोरठ—गुजरात काठियावाड।

३ पश्चिमी राजपूताना। जोधपुर के राजा बाउक के वि० स० ८९४ के शिलालेख मे उसके चौथे पूर्वपुरुष शिलुक का त्रवणी और वल्ल देश तक अपने राज्य की सीमा नियत करना कहा गया है। वल्ल देश भाटियो का जैसलमेर है, त्रवणी उसके दक्षिण मे होना चाहिए।

४ मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानाम्,
सपूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्त.।
पाञ्चालमण्डलभुवा सुभग कवीना
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठ ॥

ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिंदी की भूमि है। अंतर्वेद, ब्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरंभ होती है इसका निर्णय करना कठिन, किंतु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिंदी भी। संस्कृत ग्रंथों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिंदी की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखनशैली में बदलती बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिंदी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिंदी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिये यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिंदी का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिंदी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्म्व) क्योंकि जिस छंद में वह आया है उसका भंग होता है। इस लिये चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिवँ' या जो जिम ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छंद-विचार 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह 'उप्पजइ' अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिंदी? 'जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त पकार के कारण उ को मात्रा की गुरुता मानकर ऊपजै नहीं) जिसे हम हिंदी पहचानते हैं। संभव है कि जैसे आजकल हिंदी के विद्वानों में 'गये गए' पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जउ, उपजउ, उपजै, ऊपजै' पर भी लाठियाँ तक चली हों, यद्यपि उसे अरुंतुद बनाने के लिये छापाखाना न था।

इन पोथियों के लिखनेवाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किंतु इन कविताओं की लेखशैली पर ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया,

कभी व्यवहार मे परिचित नया रूप धर दिया। यह आगे के पाठातरो से जान पडेगा।

ऐसी कविता के लिये 'पुरानी हिंदी शब्द' जान बूझकर काम मे लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नही है। कविता की भाषा प्राय सब जगह एकही सी थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासो तक की कविता 'व्रजभाखा' कहलाती थी वैसे अपभ्रश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नही, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमे कुछ रचना प्रादेशिक हो।

पिछले समय मे भी हिंदी कवि सत लोग विनोद के लिये एक आध पद गुजराती या पजाबी मे लिखकर अपनी वाणियाँ भाखा में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छीटा देकर कविता महाराष्ट्री प्राकृत मे ही होती थी। मीराबाई के पद पुरानी हिंदी कहे जायँ या गुजराती या मारवाडी? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाडी या हिंदी? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रश मे कही कही सस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरबी भाषा मे लिखते लिखते सस्कृत मे चले जाते है[१]। यदि छापाखाना प्रातीय अभिमान, मुसलमानो का फारसी अक्षरो का आग्रह, और नया प्रातिक उद्बोधक न होता तो हिंदी अनायास ही देशभाषा बनी जा रही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगडो ने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग पृथ्वीराजरासे की भाषा को हिंदी का प्राचीनतम रूप मानते हैं, उसका विचार हम अपभ्रश के अवतरणो के विचार के पीछे करेंगे किंतु इतना कह देते है कि यदि इन कविताओ को पुरानी हिंदी नही कहा जाय तो रासे की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाडी—गुजराती—मारवाडी—चारणी—भाटी' कहना चाहिए, हिंदी नही। व्रजभाषा भी हिंदी नही और तुलसीदासजी की मधुर उक्तियाँ भी हिंदी नही।

---

१. जैसे—(क) कबिहिँ अगम जिमि ब्रह्मसुख अहममलिनजनेषु।
(ख) रन जीति रिपुदलमध्यगत पस्यामि राममनामयं॥ इत्यादि।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है कोई मुक्तक शृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथाप्रसंग में उद्धृत। मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें महाभारत और रामायण की पूरी, या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी छोटी कथाएँ थी। ब्रह्म और मुंज नाम के कवियों का पता चलता है। जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन धर्मग्रंथों में हैं, वैसे पुरानी हिंदी के नमूने भी या तो शृंगार या वीर रस के अथवा कहानियों के चुटकुले हैं या जैन धार्मिक रचनाएँ। हेमचंद्र की बड़ी बड़ाई कीजिए कि उसने प्राकृत उदाहरणों में तो पद वा वाक्यों के टुकड़े ही दिए, पर ऐसी कविताओं के पूरे छंद उद्धृत किए। इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन पंडितों के लिये उसने व्याकरण बनाया वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ करते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता का राजा दोहा है। सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छंद भी है, पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिंदी और प्राकृत का भेदक है। 'दोहा' का नाम कई संस्कृताभिमानियों ने 'दोधक'[1] बनाया हैं किंतु शाब्दिक समानता को छोड़कर इसमें कोई सार नहीं है और संस्कृत में दोधक छंद दूसरा होने से इसमें धोखे की सामग्री भी है। दोहा पद की निरुक्ति दो की संख्या से है, जैसे चौपाई और छप्पय की—दो + पद, दो + पथ, या दो + गाथा। प्रबंधचिंतामणि में एक जगह एक प्राकृत का 'दोधक' भी दिया है जो दोहा छंद में है। पूर्वार्ध सपादलक्ष (अजमेर-सांभर) के राजा ने समस्या की तरह भेजा था और उत्तरार्द्ध की पूर्ति हेमचंद्र ने की थी[2]। यह ऐसा ही विरल विनोद जान पड़ता है जैसा कि आजकल हमारे मित्र भट्ट मथुरानाथजी के संस्कृत के मनहर दंडक और सवैये। प्रबंधचिंतामणि में ही एक जगह दो चारणों को 'दोहाविद्यया स्पर्धमानौ' अर्थात् दोहा विद्या से हेडाहोडी करते हुए कहा गया है। उनकी कविताओं में एक दोहा

---

१ प्रबंधचिंतामणि, पृ० ५६, १५७।

२. पइली ताव न अनुहरइ गोरीमुहकमलस्स।
   अदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चंदस्स ॥ [प्र० चिं०, पृ० १५७]।

है, एक मोरठा, किंतु रचना 'दोहाविद्या' कही गई है यह वात ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार रेखता छद मे रेखते की वोली कहला गई थी (रेखते के उस्ताद तुमही नही हो गालिव!)।

पुरानी हिंदी का गद्य वहुत कम लिखा हुआ मिलता है। पद्य दो तरह रक्षित हुआ है, मुख से और लेख से। दोनो तरह की रक्षा मे लेखक के हस्तसुख और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्नन हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है। लिखनेवाला प्रचलित भापा के ग्रथो या लोकप्रिय काव्यो मे 'मक्खी के लिये मक्खी' नही लिखता। उसके विना जाने ही कलम नए रूपो पर चल जाती है। गुमाई जी के 'तइसइ', 'जुगुति', 'कालसुभाउ' 'अउरउ' अव क्रम से 'तैसेहि', 'युक्ति', 'कालस्वभाव' और 'औरो' हो गए है। जो कविता मुख से कान, मुख से कान, चलती है उसमे तो वहुत ही परिवर्तन हो जाते हैं। हेमचद्र के प्राकृत व्याकरण (आठवे अध्याय) के उदाहरणो मे एक 'अपभ्रश' या पुरानी हिंदी के दोहे को लीजिए। अपभ्रश और पुरानी हिंदी मे सीमारेखा वहुत ही अस्पष्ट है और जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा, पुरानी हिंदी का समय वहुत ऊपर चढ जाता है। वह दोहा यह है--

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

[वियोगिनी कौआ उडाने लगी कि मेरा पिया आता हो तो उड जा। इतने मे उसने अचानक पिया को देख लिया। कहाँ तो वह वियोग मे ऐसी दुवली थी कि हाथ वढाते ही आधी चूडियाँ जमीन पर गिर पडी और कहाँ हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि वाकी चूडियाँ तड तड कर चटक गई।]

चारणो के मुख से कई पीढियो तक निकलते निकलते राजपूताने मे इस दोहे का अव मँजा हुआ रूप प्रचलित है---

काग उडावण जांवती पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूडी कागगल आधी टूट तडित्ति॥

निशाना ठीक लग गया, चूडियाँ जमीन पर न गिर कर कौए के गले मे पहुँच गईं और चूडी टूटने का अशकुन भी मिट गया।

उसी व्याकरण मे से एक दोहा और लीजिए---

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

[उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धरती पर दूसरा अधिकार कर ले।]

इस दोहे का परिवर्तन होते होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण[1]।
जो ऊभाँ[2] घर[3] आपणी गंजीजैं[4] अवरेण॥[5]

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे मे 'मुये पुत्र मे क्या अवगुण' कहा गया है किंतु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (=पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी) से क्या अवगुण' हो गया है। अस्तु, ऐसी दशा मे जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छंद आदि के ग्रंथो मे, बच गया है, वह पुराने वर्णविन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तव रूप दिखाता है।

इस तथा अग्रिम लेखो मे 'दोहाविद्या' के उदाहरण संग्रह किए जायँगे। आवश्यक कथाप्रसंग तथा मूल का परिचय दिया जायगा। पुराने शब्दो के वर्तमान रूप और कुछ तारतम्यात्मक विवेचन दिखाया जायगा। पाठांतरो में से उतने ही दिए हैं जिनमे विशेषता है। लेखकों ने ह्रस्व दीर्घ

---

१ धी से, पुत्री से।

२. खडे खडे।

३. पृथ्वी, धरा।

४. गंजन की जाय, जीती जाय।

५ मलसीसर के ठाकुर श्री भूरसिंहजी का विविध संग्रह, पृ० ४८। इस संग्रह मे यह दोहा तथा 'एहि ति घोडा एहि थल—' वाला० दोहा ठाकुर साहब ने कविवर हेमचंद्र के नाम से दिया है, किंतु ये हेमचंद्र की रचना नही है, उससे पहले के हैं, उसने अपने व्याकरण मे उदाहरण की तरह और बहुत सी कविता के साथ दिए है। 'एहि ति घोडा' की चर्चा यथास्थान होगी।

का व्यत्यय किया है वह ज्यो का त्यो रहने दिया है, छद के अनुसार पढना चाहिए 'जिन्मा जाणादि छदों'। पाठातरो से जान पडेगा कि कोई लेखक पुरानी अक्षरयोजना को रखता हैं, कोई प्राकृत की चाल पर चलता है, कोई मँजी हुई देशभापा की रीति पर आ उतरता है।

(१) शार्ङ्गधर पद्धति से

शार्ङ्गधर नामक कवि ने एक सुभापित सग्रह शार्ङ्गधर पद्धति नामक बनाया है। वृक्षायुर्वेद और वैदक के भी उसके ग्रथ प्रसिद्ध हैं। उसने अपना परिचय यो दिया है कि शाकभरी देश के चाहुवाण राजा हमीर के सभासदो मे मुख्य राघवदेव थे। उनके गोपाल दामोदर और देवदास नामक पुत्र हुए। दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण थे। यह हमीर रणथभोर का प्रसिद्ध हमीर है जो अलाउद्दीन खिलजी से सवत् १३५७ मे बडी वीरता से लडकर परास्त हुआ। चौहानो की राजधानी पहले शाकभरी (साँभर) थी, जिससे अजमेर मे आने पर भी वे शाकभरीश्वर ही कहलाते रहे। पृथ्वीराज के पुत्र गोविंद ने शहाबुद्दीन गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली जिसमे उसके चचा हरिराज ने उसे निकाल दिया। वह रणथभोर मे जाकर राज्य जमा कर बैठा। उसका अतिम सातवाँ वशधर हमीर था। उसके सभासद के पौत्र का उसे शाकमरीप्रदेश का स्वामी कहना ऐतिहासिक और उचित हैं। यो शार्ङ्गधर का समय विक्रमी सवत् की चौदहवी शताब्दी का अत हुआ। शार्ङ्गधर पद्धति से कई जगह उस समय की बोलचाल की भापा के मत्र, शब्द और वाक्य दिए है जो उस समय की हिंदी के नमूने हैं।

शार्ङ्गधर पद्धति मे (१) एक विप हटाने का शावर मत्र दिया है। (पीटर्सन का सस्करण, न० २८७०)। शावर का अर्थ वहाँ यह दिया है कि जब शिव ने शबर (किरात) रूप से अर्जुन से युद्ध किया उस समय जो मत्र उन्होने कहे थे वे शावर मत्र हैं। वे वैसे ही मत्र हैं जिनके लिये गुसाँई तुलसीदास जी ने लिखा है कि 'अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाव महेश प्रतापू।' दहने हाथ मे पानी का वरतन लेकर वाएँ हाथ अनामिका से सात बार मत्र पढकर उसे हिलाकर जिसे वह जल पीने को दिया जाय वह तत्क्षण निर्विप हो जाता है। (न० २८६८-९) मत्र यह है—

ओ गुरु के पाय शरणम्। ओ चवि चवि चारि भार विसुमाटी ॥

(=कह, कह, विप की मट्टी के चार भार, चव=कहना, यथा सुकवि चद सच्चो चवै)

(२) न० २६४२ मे साँप के विप से बचने का यह मत्र दिया है। इसे सात बार पढकर कपडे मे गाँठ दे ले, जब तक वह गाँठवाला वस्त्र देह पर रहेगा तब तक साँप से भय न हो—

ओ दण्ट कर अष्ट कर कालिगनाग हरिनाग।
सर्प डुण्डो विसु दाढ बन्धन शिवगुरु प्रसाद ॥

(डुण्डी=डुण्डुभ, निर्विप, जल का साँप, विसु=विप, दाढ=दंष्ट्रा)

(३) न० ३०१८ में टीडी, सारस, तोते, सुअर, हरिन चूहे, खरहो को खेतो से हटाने का मत्र दिया है—

ओ नम सुरेभ्यो वल वल ज ज चिरि चिरि गिलि मिलि स्वाहा।

(ज=जा, जादूगर अब तक 'इरि मिरि चिरि' कहा करते है।)

(४) न० ३०१९ मे लिखा है कि मत्र जाननेवाला धनुष की नोक से अपने साथ (सार्थ, कारवाँ) के चारो ओर रेखा से कुडल करे और इस साबर मत्र का जप करे तो सिंह से रक्षा हो—

नदायण[1] पुत्त[2] मायरिउ[3] पहाए[4] मोरी[5] रक्षा कुक्कुर जिम पूंछी[6] दुल्लावइ[7] उरहइ[8] पुछी परहई[9] मुहि[10] जाह[11] रे जाह। आठ सकला[12]

---

१ नद का।

२ पुत्र।

३, सायरी का ?

४. पहाड।

५ मेरी।

६. पूंछ।

७. डुलाता है, हिलाता है, सस्कृत दोलापयति (!)।

८ और रहता है ?

९. छोडता है ?

१० मुझे।

११ जा।

१२ साँकल।

करि उर[1] वन्धउ[2] वाघ-वाघिणी कउ[3], मुह वन्धउ कलियाखिणी[4] की दुहाई महादेव की पूजा पाई टालहि जई[5] आगिली विप देहि ।

(५) न० ३०२०—३०२२ मे कहा है कि जोर से 'वोलला' कहने-से जहाँ तक शब्द सुनाई पडे वहाँ तक सिह ठहरता नही । शवर की स्त्री इस मन्त्र को पढे तो चुगुलखोर, सिह, चोर, अपमृत्यु और वाण से रक्षा होती है, तर्जनी अँगुली से आठो दिशाओ मे इस मन्त्र से रक्षा करे या मन्त्रित करके 'कर्कर' (ककरियाँ या कौडियाँ) आठो दिशाओ की ओर फेंके—

ओ आडू चूडू वाढी कोडी चोर चाटु कालु कांडु वाघ स्वाहा ।

(६) भाषा चित्र मे एक श्लोक (न० ५४६) दिया है जिसमे कई हिंदी शब्द आए है । श्लोक सस्कृत का है और सधि आदि से उसका ठीक सस्कृत अर्थ होता है । चमत्कार यह है कि पढते समय धोखा होता है कि सस्कृत मे अपभ्रश कैसे आ गए । पुराने ग्रथो मे ऐसे चमत्कार के लिये जो श्लोक दिए जाते थे उसमे सस्कृत मे प्राकृत-वुद्धि हो जाती थी, अर्थात् संस्कृत और प्राकृत दोनों अर्थ निकलते थे, किंतु इस श्लोक मे प्राकृत का स्थान हिंदी ने लिया है—

उत्सरगकलितोरू कटाराभाजिराउत भयकर भाला ।
सतु पायक्र गणा जयतस्त्व गाम गोहर मिलापइलावी ॥

इसमे और हिंदी शब्द तो देखने मे ही हिंदी है, जैसे उरूकट + अरि + इभ + आजि + रा, किंतु पायक ठीक हिंदी अर्थ (सेवक) मे व्यवहृत हुआ है (सो किमि मनुज ·····जाके हनूमान से पायक—तुलसीदास) ।

(७) वही पर भाषाचित्र का एक नमूना और (न०५५०) दिया है जिसमे कुछ सस्कृत है, कुछ हिंदी । इसका कर्ता श्रीकठ पडित है और इसमे श्रीमल्लदेव राजा की वीरता का वर्णन है कि उसकी सेना के जोधा मार-काट चिल्ला रहे है वैरिनारी अपने से कह रही है कि घमड छोडकर मल्लदेव की शरण जाओ ।

---

१ छाती ।
१. वाँधू ।
३. को (= का)
४. कलि यक्षिणी ।
५. मुझे टाल कर जा ।

नूनं बादल छाइ; खेह[1] पसरी नि.श्राणशब्दः खर
शत्रु पाडि लुटालि तोडि हनिसौं[2] एव भणत्युद्भटा।
झूठे गर्व भरा मघालि (?) सहसा रे कन्त मेरे कहे
कंठे पाग निवेश[3] जाह शरण श्रीमल्लदेव विभुम्॥

इन अवतरणों से जान पडता है कि उस समय हिंदी के दोनों रूप प्रचलित थे, खडा और पडा। 'वादल छाइ खेह पसरी' भी है और 'रे कत मेरे कहे' भी है 'कुक्कुर जिमि पुंछी दुल्लावइ' 'वाघणी कउ मुख' भी है और 'कालियाख्रिणो की दुहाई' और 'गुरु के पाय' भी है। अपभ्रंश का नपुसक प्रथमा एकवचन का चिह्न 'उ' भी चलता था वर्तमान मे भी 'उ' था, आज्ञा मे इ, उ, हु, हया, हि हटकर कोरा धातु भी रह गया था।

(२) प्रबंधचिंतामणि से

प्रवधचिंतामणि नामक सस्कृत ग्रथ जैन आचार्य मेरुतुग ने सवत् १३६१ मे वढ़वान मे वनाया। ववई के डाक्टर पीटर्सन के शास्त्री दीनानाथ रामचद्र ने ववई मे स० १६४४ मे कई हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर इसका मूल छापा जो अव दुष्प्राप्य है। उन्होंने इसका वढाया हुआ गुजराती भाषातर भी छपवाया था जो मैंने देखा नही। सन १६०१ में टानी ने और कई मूल प्रतियो की सहायता मे इसका अंगरेजी अनुवाद छापा। दोनो के अनुवाद कैसे है यह यथास्थान प्रकट होगा। इस पुस्तक मे कई ऐतिहासिक प्रबध या किस्से है कई वातो मे यह भोजप्रवध के ढंग

---

१. धूल।

२. फाड लूट और तोडकर मारूँगा [हनिसौं, मिलाओ राजस्थानी करस्यूं, संस्कृत हनिष्ये]।

३. पगडी उतारना और गले मे कपडा आदि डालकर सामने आना अधीनता का चिह्न है, जैसे, वर्तमान वगालियो का अभिवादन, दसन गहहु त्रिन कठ कुठारी [तुलसीदास], अपनीत शिरस्त्राणा शेषास्तं शरण ययु [रघुवंश]। अल्पमेन्यो मल्लसूनुर्यावत्तन्माद- शकत। अपनीतशिरस्त्राणस्तावत्त तमवन्दत [राजतरंगिणी ७।१५४४]। कण्ठवद्धशिर शाट गोर्नेणोशानह वहन्। मुन्न वेलोऽरि भूपाल कर्तु नाशकद क्रुधम्। [राजतरंगिणी ८।२२७३]

की है। जैन धार्मिक साहित्य में अपने मत की 'प्रभावन' बढानेवाले किस्सों का स्थान बहुत ऊँचा है। जैन धर्मोपदेशक अपने साधु तथा श्रावक शिष्यों के मनोविनोद और उपदेश के लिये कई कथाएँ कहा करते हैं जो पौराणिक, ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक होती हैं। इन कथाओ के कई सग्रह ग्रथ हैं जिनमे पुराने कवियो की रचना, नए कवियो के नाम, पुराने राजाओ के कर्तव्य, नयो के नाम, विक्रमादित्य भी जैन, सालिवाहन भी जैन, वराहमिहिर भी जैन, ब्राह्मण विद्वानो और अन्य शाखा सप्रदायो के जैन विद्वानो का अपने इष्ट सप्रदाय के आचार्यों से सदा पराजय, आदि बातें भी रहती हैं जो वर्तमान दृष्टि से ऐतिहासिक नही कहला सकती। किंतु उस समय के हिंदू ग्रथ भी ऐसे ही हैं। उनमे देखा जाय तो ऐतिहासिकता की उपेक्षा जैनो की अपेक्षा अधिक की गई है। इसलिये केवल जैनो ही को उपालभ दिया नही जा सकता। इतना होने पर भी जैन विद्वानो के इतिहास की ओर रुचि रखने और उसकी मूलभित्ति का सहारा न छोड़ने के प्रमाण मिलते हैं। यो तो सम्राट् अशोक की धर्मलिपि के शब्दो मे 'आत्मपाषडे पूजा परपाषडे गर्हा' सभी दिखाते हैं। स० १३६१ का समय पृथ्वीराज और रासे के कल्पित कर्ता चद के समय (१२५० स०) से ११० (वर्ष) पीछे ही का है। उस समय की प्रचलित भाषा कविता अवश्य मनन करने योग्य है। स० १३६१ मेरुतुंग के इस चिंतामणि के सग्रह करने का समय है। कोई भी उद्धृत कविता उसने स्वय नही रची है। कथाओ में प्रसंग प्रसग पर जो कविता उसने दी है वह अवश्य ही उसमे पुरानी है। कितनी पुरानी है इसका ऊर्द्धतम समय तो स्थिर नही किया जा सकता, किंतु प्रबंधचिंतामणि की रचना का समय उसका निम्नतम उपलब्धि काल अवश्य है। उससे पचास साठ वर्ष पहले यह कविता लोककथाओ मे प्रचलित हो या ऐसे घिसे सिक्के यदि सौ दो सौ वर्ष पुराने भी हों तो आश्चर्य नही।

कुछ दोहे ऐसे हैं जो धार के प्रसिद्ध राजा भोज के चाचा मुंज के नाम पर हैं, उसके बनाए हुए कहे गए हैं। एक गोपाल नाम किसी व्यक्ति ने भोज से कहा था। दो चारणो ने हेमचद्र को सुनाए थे। कुछ नवघन राजा के मरसिये हैं। स० १३६१ के लिखित ऐतिह्य के अनुसार वे उस समय के हैं। इन कविताओ को शास्त्री ने मागधी और टानी ने प्राकृत समझा है।

सेवेल ने गणित से सिद्ध किया[1] है कि गुजरात के चावडे राजाओं के संवत् आदि मेरुतुंग ने अशुद्ध लिखे हैं और मिति, वार, नक्षत्र, लग्न सब गड़बड़ दिए हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्य कुछ नहीं है। पुरानी घटनाओं के बारे मे चाहे कितनी ऐतिहासिक गड़बड़ हो, अपने समीप के काल की घटनाएँ तो मेरुतुंग ने, जहाँ तक वे प्रबंध की पुष्टि कर सकती है, प्रामाणिक ही लिखी हैं। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, हेमचंद्र, वस्तुपाल, तेजपाल का काल गुजरात मे संस्कृत और प्राकृत की विद्या तथा जैनधर्म के प्रचार का स्वर्णयुग था। भोज के समय धारा मे जो विद्वानों की ज्योति चमकी थी वह दो ढाई सौ वर्ष पीछे पश्चिमी गुजरात मे भी देदीप्यमान हुई। उस समय की बातें जैनो के गौरव की हैं और उनकी संरक्षा उन्होंने बहुत सावधानी से की है।

प्रबंधचिंतामणि के एक ऐसे हिंदी अनुवाद की आवश्यकता है जिसमें ऐतिहासिक और शाब्दिक टिप्पणियाँ हो। इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत है किंतु वह संस्कृत भी देशभाषाओं की उत्पत्ति और विकास के समझने में उपयोगी है। इस समय की 'जैन संस्कृत' मे एक मनोहारिता यह है कि जैन लेखक गुजराती या देशभाषा मे सोचते थे और लिखते थे संस्कृत मे। परिशिष्ट पर्व १।७५ मे हेमचंद्र लिखते है कि 'स कालं यदि कुर्वीत को (क्वा) लभेत ततो गतिम्'। मरने के अर्थ मे 'काल करना' संस्कृत का महाविरा तो है नहीं, देशभाषा का है। मंजे छँटे संस्कृत के प्रेमी इसे बर्बर संस्कृत कहें किंतु यह जीवित संस्कृत है, इसमे भाषापन है। रुचि की तो बात है, किसी को कश्मीर की कुराई के काम से सजा अखरोट की लकड़ी का सुढंग तख्ता अच्छा लगता है, किसी को हरी कोपलो से लदी-फदी टेढी टहनी। यहाँ कुछ शब्द और वाक्य इस संस्कृत के दिए जाते हैं, जिनपर * ऐसा चिह्न है वे अन्यत्र शिलालेखो, काव्यो आदि मे भी देखने मे आए हैं—

छुप्तवान्—छुआ।

* उच्छीर्षक—तकिया, ओसीसा (राजस्थानी, बाण की कादंबरी)

करवडी—दोनो हाथ मिलाकर पानी पीने के लिये पात्र सा बनाना (करपुटी)।

---

१ राय० एशि० सोसा० जर्नल, जुलाई १९२०, पृ० ३२३ आदि।

धवलगृह—प्रधान महल (धवल = जो जिस जाति मे उत्तम हो, देशी, हेम० देशी नाममाला ५।५७, तुलसीदास जी के 'धवल धाम' का यही अर्थ है, सुफ़ेद महल नही।

सर्वावसर—राजा का सबसे मिलना, दीवान-ए-आम।

राजपाटिका—राजमार्ग।

* धर्मवहिका—(धर्म के लेखे की) बही।

छुट्टित—छूटा।

झोलिका—झोली (यदि झोलिका संस्कृत मे रूढ न हो तो यह भी देशी है हेम० (देशी० ३।१५६)।

धाटीप्रपात—धाडा डालना।

* पञ्चकुल—पचोली राजकर्मचारी (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, सं० २, पृ० १३४)।

उद्ग्राहणक—उगाही, उद्ग्राह्य—उगाहकर, उद्ग्राहित—उगाहा हुआ।

तिरुद्ध—(अमुक काल से) लेकर, लगाकर (यहाँ तक)।

वहमान—चलता हुआ (सिहलग्ने वहमाने)।

न्युञ्छन—न्योछावर।

नृपतेः कः समयः ?—महाराज क्या काम कर रहे है ? कैसा मौका है ?

गुरुदर—तम्बू, खेमा।

* वसहिका—मंदिर (पत्रिका, भा० १, सं० ४, पृ० ४५०)।

चितायक—सम्हालनेवाला, रखवाला।

* दवरक—कटीदवरक–डोरा (डोरः कटिसूत्र, हर्षचरित की टीका)।

* रसवती—रसोई।

यमलपत्र—(राजाओ के आपस के) पत्र, मुरासिले।

भेटितः—मिला।

पादोऽवधार्यताम्—पधारो (पगु धारे—तुलसी०)।

* खत्तक—द्वार प्रांत का ताक।

मदनपट्टिका—मोम की पट्टी, मैण (=मोम) का संस्कृतीकृत 'मदन'।

कच्चोलक—कटोरी, कचोला, कचोली (राजस्थानी)।

जीर्णमञ्चाधिरूढ—टूटी खाट पर पडा हुआ (क्रोध मे)।

सवाहटिको घट—प्याले सहित घडा (वांहटो = वाटी या वाट की = कटोरी) ?

हक्कित—बुलाया गया, संबोधित ।

दानी—दड राजकर, दाणी, दाण (मारवाडी) ।

गोण्डित—बीमार हुआ (पशु) ।

कामुक—काम करनेवाले नौकर, (पजावी) काम्मा, (मारवाणी) कामेती, कार्म (हर्षचरित) (= भृतका.)

ठानी—Well-wishers (शुभचिंतक) ।

छिम्पिका—छीपी (वस्त्र रंगनेवाली जाति) ।

निजतनक गृह—अपना घर (तणा, या तणु, या तणी—मारवाड़ी गुजराती 'का') ।

व्याघुटन्ती—लौटती हुई, (मारवाडी) वावडना, (पंजावी) वोडना । व्याघुटितुं—लौटने को ।

वलित—लौटा, मुडा ।

वासण—भाडे, रुपयो की थैली (वासणी)

विहङ्गिका—वहंगी, कावड ।

* कार्मण—जादू टोना, कामण (मारवाडी) ।

उत्तेजित निर्माप्य—उत्तेजित (शान चढा हुआ) बनाकर, करवाकर ।

सग्रहणी—वेश्या ।

*पट्टकिल—पटैल, पट्टक (जिले) का प्रवधक ।

सेजवाली—पालकी ।

स्थपनिका—गिरो रखना ।

समारोपयत्—सौप दिया ।

पादौ त्यजसि—पांव छोडता है (डरकर भागता है।)

पोत—वस्त्र (मारवाड़ी पोतिया) ।

आरात्रिकमुत्तार्य—आरती उतारकर ।

तत्पट्टक विपाटच मुमोच—पट्टा फाडकर (राजकर) छोड दिया ।

* मारि—मारना, अमारि—अभय ।

युगलिका—डाक की चिट्ठी (हरकारे दो साथ दौडते है टानी) ।

शकुन भरित विधेहि—शकुन भरो (= शकुन लो) ।

पाषाणसत्कजातीय; सत्क = का ।

॥ कारापक—करानेवाला ।

॥ तापिका—तई (कडाहो), तपेली (तापकोऽपूपादि करणस्थानं तापिका काकपालिका यत्र तैलादिना भक्ष्याः पच्यन्ते, हर्षचरित पर संकेत टीका) ।

वप्ता—वाप (देखो आगे ११) ।

चतु.सर—चौसर, एक तरह का फूलो का हार ।

फुल्लावयिष्यसि—फुलावेगा, फूल उपजावेगा ।

॥कर्तुं लग्न.—करने लगा ।

धातुओ की अनतता, आकृतिगण और उणादि की अक्षय निधि से संपन्न वे विद्वान् जो मा धातु से डियाँ, डुलक, डौलाना प्रत्यय बनाकर मियाँ, मुलक, मौलाना सिद्ध कर लेते हैं या हमारे आचार्यदेशीय सुग्रीहीतनामा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सतीर्थ्य जो 'जयौ जयशीलौ ऊरू यस्याः सा जयोरूः' = जोरू (स्त्री) वनाते है, उन्हें इन उदाहरणो मे कुछ चमत्कार न जान पड़े किंतु ये देशभाषा से गढ़े हुए संस्कृत के उदाहरण हैं। कितना ही बाँध दो, जल तो नीचे की ओर रिसता ही है। देशी शब्द और वाग्धारा सस्कृत के लिये अछूत न थी, सस्कृत मे इतना लोच था कि उन्हें अपना लिया करती।

प्रबधचितामणि मे एक जगह 'आशिष' शब्द अकारात काम मे लिया है (मातुराशिषशिखाकुरिताद्य—वस्तुपाल की रचना, पृ० २६९) 'श्वान' भी (सन्निहितश्वानेन शुण्डादण्डे निहत्य पृ० १८०,—कुक्कुरस्तु शुनिः श्वान इति वाचस्पतिः, शास्त्री)। जयमगल सूरि 'चातुर्यता' लिखकर हिंदी के डवल भाववाचक का वीज वोते हैं (पौरवनिताचातुर्यतानिर्जिता, पृ० १५४) ।

कवि श्रीपाल ने सिद्धराज जयसिंह के सहस्रलिङ्ग सरोवर की प्रशस्ति बनाई। उसमे यह श्लोक भी था—

कोशेनापि युत दलैरुपचित नोच्छेत्तुमेतत्क्षम
स्वस्यापि स्फुटकण्टकव्यतिकर पुस्त्व च धत्ते नहि ॥
एकोप्येष करोति कोशरहितो निष्कण्टक भूतल
मत्वैव कमला विहाय कमल यस्यासिमाशिश्रियत् ॥

(कमल मे कोश—डोडी और खजाना है, दल—पत्ते और सेना है, उखड नही सकता, आप ही इसमे कटक-काँटे और शत्रु का उपद्रव है, कभी इसमें

पुस्त्व—पुंल्लिंग और पुरुषत्व नही आता, और सिद्धराज जयसिंह का खड्ग अकेला, विना कोश मियान के, भूमंडल को निष्कटक कर देता है, इसलिये लक्ष्मी कमल को छोड़कर उसी मे चली आई।)

कहते हैं कि इसमे रामचद्र पडित ने दो दोष निकाले, एक तो दल शब्द का अर्थ 'सेना' भाषा मे होने पर भी सस्कृत मे नही है, दूसरे कमल शब्द पुल्लिग और नपुसक लिंग दोनो ही है। नित्य क्लीव नही। इसपर राजा ने सव पडितो मे आग्रह करके (उपरुध्य) 'दल' शब्द को राजसेना के अर्थ मे प्रमाणित करवाया[1] किंतु लिंगानुशासन मे कमल की नित्यनपुसकता नही थी, उसे कौन निर्णय करे? इसलिये 'पुस्त्व च धत्ते न वा' (पुरुषत्व धारण करता है या नही) यह पाठ वदल दिया (प्रवधचिंतामणि, पृ० १५५-६)। यों सस्कृत के क्षीरसिंधु मे भी कोई कांजी का शीकर पहुँच जाता था।[2]

विषयातर होता है किंतु इस जैन संस्कृत की एक वात की चर्चा विना किए आगे वढा नही जाता। हिंदी मे क्रियापदो मे लिंग देखकर वहुत लोग चौंकते है, 'वह आता है, वह आती है' न सस्कृत मे है, न लैटिन मे, न अंग्रेजी फारसी आदि मे, इससे वहुत से अन्य भाषाभाषी हिंदी सीखने से घवरा उठते है। क्रियापदों मे लिंग के आने का वडा रोचक इतिहास है। धातु के शुद्ध क्रिया-वाचक रूप (सस्कृत तिङन्त) मे तो लिंग नही होता, धातु से वननेवाले क्रियावाचक विशेषणो (वर्तमान या भूतकृदत) मे उनके विशेषण होने के कारण लिंगभेद होता है। हिंदी मे केवल 'है' धातु का शुद्ध रूप है, उसमे लिंग नही है और जो पद वर्तमान या भूतकाल वताते हैं वे धातुज वर्तमान या भूतविशेषण हैं [आता है = आता (हुआ) है, आती है = आती (हुई) है, करता है, करती है, आता था, आती थी,

---

१. 'दल' का सस्कृत मे 'सेना' अर्थ जयसिंह और श्रीपाल ने कराया यह कहना पूजार्थ ही है क्योकि स० १०८३ और ११०७ के वीच मे उदयसुंदरी कथा का कर्ता सोड्ढल कायस्थ लिखता है, ननु कथमसाध्योऽयमरातिरस्म-द्दलानाम्। [गायकवाड़ ओरिएटल सिरीज न० ११, पृष्ठ ४]

२. क्या अव यह वद हो गया है? आदोलन, संपादक आदि सस्कृत मे अव क्या अर्थ देने लग गए हैं? कई लोग हिंदी की छाया पर 'आवश्यकता प्रगटीकर्तुं' लिखते हैं और संस्कृत साहित्य संमेलन के कर्णधारो के व्याकरण कषायितोदर मुख से विना जाने ही कभी कभी 'इयं महिमा' निकल जाता है।

करता था, करती थी, स० आयान् (आयान्त्) आयान्ती, कुर्वन् (कुर्वन्त् करन्त्), कुर्वन्ती (करन्ती)] अवश्य ही आज्ञा, विधि क्रिया में लिंग नही है क्योकि वे धातु के ही रूप हैं। इन धातुज वर्तमान और भूत धातुज विशेषणो का क्रिया के स्थान पर काम मे आना भाषा के विकास मे एक नया युग प्रकट करता है। वैदिक सस्कृत मे भूतकाल की क्रिया के तिडन्त रूप ही आते हैं, स गतः, तेन कृतम्, अह पृष्टवान्, आदि रूप अलभ्य नही तो अतिदुर्लभ हैं। पीछे सस्कृत मे ये निष्ठा के रूप क्रिया का काम देने लगे, उनमे विशेषण होने के कारण लिगभेद भी था। भाषा मे बडी सरलता आ गई, सः (सा) चकार, अकरोत्, अकार्षीत् की जगह स कृतवान्, सा कृतवती, तेन कृतम्, तया कृतम् से काम चलने लगा। यो भूतकालवाची धातुज कृदत को (past participle), चाहे वह कर्तरि प्रयोग हो चाहे कर्मणि या भावे, विशेषण की तरह रखकर आगे अस्ति (होना क्रिया का वर्तमान काल का रूप) का अध्याहार करके भूतकाल का काम चलाया जाने लगा। आर्ष प्राकृत मे कुछ भूतकालिक क्रियापद है, पीछे प्राकृत मे आसी (आसीत्-पजाबी सी) को छोड़कर भूतकालिक क्रिया मानो रही ही नहीं, इन्ही त वाले विशेष्य-निघ्न शब्दो से काम चला। यह तो पहली सीढ़ी भाषा की सरलता मे हुई। सस्कृत और प्राकृत के रचनावैचित्र्य मे इससे बहुत सहायता मिली कि वैदिक सस्कृत से प्राकृत और लौकिक सस्कृत मे आते आते भूतकालिक क्रिया का काम विशेषण देने लगे, वैयाकरणो की भाषा मे 'कृदभिहित आख्यात' हो गया। इसी तरह वर्तमान काल की क्रिया भी केवल अस्ति (होना धातु की) रहकर वर्तमान धातुज विशेषणो का क्रियापद का काम देने लगना दूसरी सीढी है जो प्राकृत से अपभ्रश या पुरानी हिंदी बनने के समय हुआ। उपजइ, उपजै, करइ, करै यह तो धातु के (तिडन्त) रूप हैं, इनमें लिंगभेद नही है, इनका इ (या मुखसुख का ऐ) सस्कृत 'ति' और प्राकृत 'इ' है। किंतु उपजता है (या उपजती है), करता है (या करती है), मे 'है' (अहै-अहइ-अस्ति) धातु का रूप है और पहले पद वर्तमान धातुज विशेषण (Present Participle) है (उत्पद्यन्—उत्पद्यंत—उपजन्त; उत्पद्यन्ती—उपजंती—उपजती; कुर्वन्—कुर्वंत—करत-करत, कुर्वंती—करती—करती)। इस विशेषण के वास्तव रूप के अंत मे ०अत, ०अती ही है जो सस्कृत और पुरानी हिंदी दोनो मे स्पष्ट है। उसी का ०अत, ०अती हो जाता है। करतो, उपजतो मे 'ओ', 'उ' की जगह है

जो पुल्लिग के कर्ता के एकवचन के चिह्न (संस्कृत 'स' या ':') का अपभ्रंश है।

अब इस विषय को अधिक न बढाकर प्रसंग की बात पर आते हैं कि इस काल की जैन संस्कृत में भी वर्तमान धातुज विशेषण का क्रिया की तरह काम देना पाया जाता है—यथागत व्रजामीत्यापृच्छन्नस्मि (प्र० चि० पृ० ११), नृपस्तस्य सौधमलंकुर्वन् (पृ० ५४), वदिन.श्रीसिद्धराजस्य कीर्तिं वितन्वत (पृ० १८२) इत्यादि। देशभाषा में सोचनेवाले कवि ने उसकी छाया संस्कृत मे पहुँचा दी और संस्कृत की स्थिर भाषा मे भी समय की गति का प्रभाव पडा। वर्तमान धातुज विशेषण 'होना' क्रिया के वर्तमान के रूप के साथ वर्तमान क्रिया का काम देने लगा और भूतकालिक धातुज विशेषण (निष्ठा, था–थी, हतो–हती, भयो, भयी) के साथ भूतकाल का। 'था' और 'हता' अस् (अस्ति) के हैं, और भया, भू (भवति) का।

अब प्रबंधचिंतामणि का कुछ पानी[1] देखिए—

(१)

अम्मणिओ सदेसडओ तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउ बलिबधणह मुहिज्ज॥

पाठांतर—पुरानी जैन पोथियों मे ओ औ को उ उँ लिखते थे। इसके धोखे मे आकर छापनेवाले कही ओ छाप देते हैं। शुद्ध पाठ छंद की मात्राओं के अनुसार पढना चाहिए। अउ और अइ पुरानी लिखावट है, उनकी जगह ओ और ऐ पिछली, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इसलिये यहाँ पर अम्मणिअउ, सदेसडउ, डुब्बिअउ, पाठ उचित है, पीछे से लेखकों की मुखसुखानुकारी लिखावट से वे अम्मणिओ, सदेसडो डुब्बिओ हो गए होंगे जो कविता की हिंदी से बहुत दूर नही हैं। ऐसे ही जैन पोथियों में 'स्य' 'च्छ' 'ज्झ' 'म्म' 'त' 'भ' सदृश लिखे हुए मिलते है, अतएव ऐसे पाठांतर कोई पाठांतर नही हैं, पुरानी लिपि के ठीक ठीक न पढने से उपजे हुए भ्रममात्र हैं। शास्त्री तथा टानी के संस्करणों मे जो पाठांतर दिए हैं उनमे से हमने यहाँ

---

१ हिंदी मे पानी मोती की ओप के लिये ही आता है किंतु गणरत्नमहोदधि मे वर्धमान ने एक उदाहरण 'भुजगमस्येव मणि सदंभाः' देकर मणि के लिये भी अभः (पानी) का प्रयोग दिखाया है।

कुछ दे दिए हैं —नारायणह कहिज्ज, जगु, दुत्थिउ (-दुच्छिउ)। परसवर्ण नियम वैकल्पिक होने से हमने कहीं-कहीं अनुस्वार का प्रयोग किया है और ह्रस्व दीर्घ को अधिक बदला नहीं।

अर्थ—एक समय विक्रमादित्य रात को नगर में घूम रहे थे कि एक तेली को उन्होंने यह आधा दोहा पढ़ते सुना कि 'हमारा सदेशा तारनेवाले (तारक) कान्ह (पाठांतर में नारायण) को कहना'। राजा बहुत देर तक ठहरा रहा कि देखें आगे क्या कहे किंतु उत्तरार्द्ध न सुनकर लौट आया। सवेरे दरबार में बुलाए जाने पर तेली ने दोहा यों पूरा किया—'जग दारिद्रय में डूब रहा है, बलिबंधन को छोड दीजिए'। दैत्य बलि बड़े दानी थे जिन्हें नारायण ने बांध कर पाताल में भेज दिया था। यदि तेली की प्रार्थना पर तारक कान्ह उसके बंधन छोड देते तो जग दारिद्रय से उबर आता। बलि का अर्थ राजकर भी होता है। राजा कदाचित् यह समझ रहा हो कि तेली मेरी बड़ाई में कुछ कहेगा किंतु वह तो राजा को ताने से सुना रहा है कि हम तो दारिद्रय में डूब रहे हैं और बलिबंधन (करों का बोझ) छुड़ाने की प्रार्थना करते हैं। टानी ने पूर्वार्द्ध का अर्थ किया है 'हमारा राजा वास्तव में नारायण कहलाने योग्य है,' और उत्तरार्द्ध के लिये शास्त्री तथा टानी दोनों कहते हैं कि 'बलिबंधन नहीं छोड़ा गया'। सदेसड़उ का अर्थ टानी ने राजा कैसे किया यह चिंत्य हैं। 'बलि-बंधणह' को 'बलिबंधण ह' पढने से उत्तरार्द्ध का यह अर्थ हो सकता है कि 'बलिबंध न छोड़ा गया' किंतु कहिज्ज (कहीजै, कहजै, कहिए) के साथ से मुहिज्ज का अर्थ छोड़िए ही ठीक है, छोड़ा गया (मोचित) नहीं।

विवेचन—अम्मणिअउ—अम्हणिअउ, स० अस्मानं (!), अस्मनीय (!), आगे अम्हीणा=हमारा आवेगा। 'ण' (स० नाम्) सबंध कारक का है (प्रा० अम्हाण), गीतों की पंजाबी में ण का ड हो गया है मैंडा, तैंडा। संदेसड़उ—जैसे संस्कृत में अल्प, अज्ञात, कुत्सित स्वार्थ में 'क' आता है वैसे पुरानी हिंदी में 'ड' या 'डल' आता है जैसे, मोर-मोरडो, नींद-नींदडली (मारवाडी), रत्ति (रात)—रत्तिडी, आदि। तारय—तारक (को)। कन्ह—कृष्ण, कन्ह, व्रजभाषा का कान्ह। कहिज्ज—विधि, प्रेरणार्थक, और कर्म वाच्य में जहाँ जहाँ संस्कृत में 'य' आता है वहाँ 'ज' या 'ज्ज' आता है जैसे, मरीजै (मरा जाय), करीजै (किया जाय, महाराज कहँ तिलक करीजै,—तुलसीदास), कहज्ये (राजस्थानी)—तू कहना, लिखीज गयो (मारवाड़ी)

लिखा गया, दीजिए (दिज्जिय, दीजै, दिज्जै) पहले कर्मवाच्य प्रयोग था, पीछे कर्तृवाच्य हो गया। दालिद्दिहि–मिलाओ ग्राम्य दलिद्दर, दलिद्दरी। डुब्बिअउ—संस्कृत धातु बुड है जो देशी से बनाया जान पड़ता है, हिंदी में डूबना, बूड़ना दोनों रूप हैं, व्यत्यय का उदाहरण है। दुत्थिअउ—दुःस्थित। मुहिज्ज—छोड़िए, छोड़ा जाय, देखो ऊपर, कहिज्ज। शास्त्री इसका अर्थ 'मोचित' छोटा (छोड़ा गया) करते हैं।

(२)

कच्छ के राजा लषाक[1] को कपिलकोटि के किले में मूलराज ने घेर लिया। लाषाक (लाखा) बहुत से बोधवाक्य कहकर रणभूमि में उतर आया और वीरता दिखाकर काम आया। उन बोध-वाक्यों में से एक यह दिया है—

> ऊग्या ताविउ जहिं न किउ लक्खउ भणइ निघट्ट।
> गणिया लब्भइ दीहड़ा के दहक अहवा अट्ठ॥

इस दोहे को यदि कुछ नई लिखावट में बदलकर लिख दें तो यह इतना बेगाना नहीं जान पड़ेगा—

---

1. यह कच्छ का प्रसिद्ध राजा लाखा फूलाणी [फूल का पुत्र था] जिसका नाम धनाढ्यता तथा उदारता के लिये प्रसिद्ध है। यह जाडेचा जाति के चंद्रवंशी यादवों में से था। मूलराज के हाथ से इसकी मृत्यु का काल पुरानी गुजराती कविता के अनुसार कार्तिक शुक्ल ८ शुक्रवार शक सं० ९०१ [वि० सं० १०३६–ई० स० ९८०] है। कन्नौज के राठौड़ राजा जयचंद के पोते या पड़पोते सियाजी का मूलराज की कन्या से बियाह होना तथा इसके प्रत्युपकार में सियाजी का लाखा फूलाणी को मारना आदि कथा अप्रामाणिक है क्योंकि सियाजी के दादा या पड़दादा जयचंद का समय वि० सं० १२५० [ई० स० ११९३] है। इससे सियाजी का समय वि० सं० १३०० के पीछे आना चाहिए। उस समय लाखा तथा मूलराज को हुए तीन सौ वर्ष हो चुके थे। [देखो पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का लेख 'लाखा फूलाणी का मारा जाना', समालोचक (जयपुर) जनवरी-फरवरी, १९०४]। मूलराज का राज्याभिषेक वि० सं० १०१७ में होना प्रामाणिक है।

ऊग्याँ तापित्त जेहि न किय लक्खो भरणै निघट्ट ।
गिरण्या लब्भै दीहडा के दहक अहवा अट्ठ ॥

अर्थ—(जिस) उदय पाए हुए (पराक्रमी वीर) से (शत्रु) तापित न किए गए, न तपाए गए, तो कुशल लक्खा कहता है कि (उसे जीने के) गिने हुए दिन ही मिलते हैं, या दस या आठ । यदि वीरता न दिखाकर पडा रहे तो कितने एक दिन जी लेगा ? उम्र के थोड़े से दिन । एक न एक दिन तो मरना है ही । इससे अच्छा है कि शत्रुओ को लोहा चखाकर मर जाय ।

ऊग्या—उगे हुए से, उदित से, या उदित होने पर । ताविउ—तापित । निघट्ट—कुशल (हेमचद्र, देशी नाममाला, णिग्घट्ट ४।३४) । शास्त्री कहते हैं निकृष्ट (!) दीहडा—दिन, देखो (१) की टिप्पणी मे सदेसडो । पजाबी ध्याडा (दिहाडा) = दिन, धन्न धियाडो धिन घडी (ऊमा भीमा फी कविता, मारवाडी) । के—या, कै तापस तिय कानन जोगू (तुलसीदास) । दह—दस, मिलाओ चौदह । अहवा—अथवा । शास्त्री और टानी दोनो के अनुवाद अशुद्ध हैं ।

(३)

मालवा के राजा (परमार) मुज का राजकार्य तो रुद्रादित्य नामक मत्री देखता था और मुज किसी स्त्री पर आसक्त था । रात ही रात मे चिरक्किल नाम के ऊँट पर चढ़कर उसके पास बारह योजन चला जाता और लौट आता । कुछ दिन पीछे मुज ने आना जाना छोड़ दिया तो उस खंडिता ने मुंज को यह दोहा लिख भेजा—

मुज पडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि ।
आसाढि घरण गज्जीइँ चिक्खिलि होसेऽवारि ॥

पाठातर—जै गम्मारि ।

अर्थ—मुज, (प्रेम की) डोरी ढीली हो गई है, खसक गई है, गँवार । तू नही देखता कि आषाढ मे घन (मेघ) गरजने पर अब (भूमि) फिसलनी हो जायगी ।

शास्त्री ने अर्थ किया, कि 'अषाढ' का (आषाढीय) घन गरजता है, किंतु आषाढि का 'इ' अधिकरण कारक है, और गज्जीइँ वर्तमान काल ही नही, किंतु वर्तमान धातुज विशेषण (गरजता हुआ) की भावलक्षण सप्तमी भी जान पडती है । आगे शास्त्री कहते हैं कि 'तेरे विरह से उपजनेवाले अश्रुओ की धाराओ से

फिसलती जमीन पर कैसे आओगे इति दिक्' किंतु यह दिशा नहीं दिशाभूल है। सीधी बात यह है कि गर्मियों में डोरी सूख जाय या ढीली हो जाय तो बरसात मे मुलायम होकर तनती है (आन गाँठ घुलि जात त्यो मान गाँठ छुटि जात— बिहारी) सो बरसात होने पर तो तुम्हें बिना आए सरेगा ही नही, नाक के बल आओगे, किंतु फिसलती जमीन मे ऊँट कैसे चलेगा? इसलिये अभी से आते रहो। बरसात मे ऊँटो को चलने मे कष्ट होता है जैसा कि एक मारवाडी दोहा है—

> ऊँटा टॅघा टेरडा गुड गाडर गाटांह ।
> सारा दोहरा आवशां मींडक बोल्यां नाडाह ॥

ऊँट, बकरे, बैल, गुड, भेड और गाडे, ये सब कठिनाई से आवेंगे मेंढको के नाडियो (तलैयाओ) मे बोलने पर। आ, आह—कर्ता का बहुवचन; दोहरा–(स०) दुष्कर, बोल्या नाडाह—भावलक्षण (सप्तमी) खडल्ला — (स०) स्खलिता, (?), सूखी लडखडाती । दोरडी—डोरी, देशी से गढा हुआ संस्कृत दवरकी, पद्धतियो मे डोरक—संस्कृत ही बन गया है। बाण के हर्षचरित मे 'डोर' पद आया है जिसका अर्थ संकेत टीकाकार ने 'कटिसूत्र' किया है। (देखो, ऊपर पृ० २७) पेक्खिसि—(स०) प्रेक्षसे, पंजाबी मे अब—ईक्ष अभी देखने के अर्थ मे है, तू वेख, वह वेखदा है। गम्मारि—गँवार। आपाढि—छंद के लिये 'इ' को दीर्घ पढो। गज्जीईं—स० गर्जति, या गर्जतु, ऊपर व्याख्या देखो। चिक्खिलि—कीचडले, फिसलनी, पंजाबी चिफली (संस्कृत पिच्छिल का व्यत्यय) हेम० देशी० ३।११ चिक्खल्ल। होसे—मिलाओ, गुजराती मारवाडी होशे। अवारि=राजस्थानी अवार (=अब)।

(४)

तैलिग देश के राजा तैलप (कल्याण के सोलकी तैलप दूसरे) की छेडछाड पर मुंज ने उस पर चढाई की। मंत्री रुद्रादित्य ने मुंज को रोका और समझाया कि गोदावरी के उस पार न जाना किंतु मुंज तैलप को पहले छह बार हरा चुका था, इसलिये उसने मंत्री की सलाह की उपेक्षा की। रुद्रादित्य ने राजा का भावी अनिष्ट समझ और अपने को असमर्थ जान चिता मे जलकर प्राण दे दिए[1]। गोदावरी के पार मुंज की सेना छलबल

---

1 देखो पत्रिका भाग १, पृष्ठ ३२५–३१।

से काटी गई और तैलप मुज को मूँज की रस्सियो से बदी करके ले गया। वहाँ उसे लकड़ी के पिजड़े मे कैद रखा। तैलप की बहन मृणालवती से मुज का प्रेम हो गया। एक दिन मुज काच मे मुँह देख रहा था कि, मृणालवती पीछे से आ खड़ी हुई और मुज के यौवन और अपनी अधेड उमर के विचार से उसके चेहरे पर म्लानता आ गई। यह देख मुज ने यह दोहा कहा—

मुज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयु न भूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि॥

अर्थ—मुज कहता है, हे मृणालवती ! गए हुए यौवन को (का) सोच मतकर, यदि शक्कर के सौ टुकड़े हो जायँ तो वह चूरी (चूर्ण की हुई) भी मीठी होती है।

भणइ—भणै, कहै (सं० भणति)। मुणालवई—स्वर क्र कि 'उ' श्रुति देखो। जुव्वण—जोबन, यौवन। गयु—गयो (कर्मकारक)। भूरना-पछताना, विलाप करना। जइ (सं० यदि, हि० जे) सय—शत। थिय वर्तमान 'था' का स्त्रीलिग, स० स्थित, थी, गुजराती थई। इस—यह।

बीकानेर के राजा पृथ्वीराज की रानी चाँपादे ने पति को अपने धौलों (श्वेत केशो) पर पछतावा करते देख ऐसे ही दोहे कहे थे—नरा नाहरा डिगमरा पाकां ही रस होय,...नरा तुरंगा वन फला पक्का पक्का साव (महिलामृदुवाणी)।

(५)

रुद्रादित्य तो मर गया था। वह उदयन—वत्सराज के मत्री यौगंधरायण की तरह अपने स्वामी को वचाने के लिये पागल का वेश धर के नही पहुँचा किंतु मुज के कुछ सहायक तैलप की राजधानी मे पहुँच गए। उन्होने वंदीगृह तक सुरग लगा ली। भागते समय मुज ने मृणालवती से कहा कि मेरे साथ चलो और धारा मे रानी वनकर रहो। उसने कहा कि गहनो का डब्बा ले आती हूँ किंतु, यह सोचकर कि यह मुझ अधेड को वहाँ जाकर छोड दे तो न घर की रही न घाट की, उसने सब कथा अपने भाई से कह दी। वत्सराज की तरह घोषवती वीणा और वासवदत्ता को लेकर निकल जाना तो दूर रहा, मुज वडी निर्दयता से फिर बाँधा गया। उससे गली गली भीख मँगाई गई। उसके विलाप की कविता मे कई श्लोकों के साथ कुछ पुरानी हिंदी कविता भी

है जिसकी यहाँ चर्चा की जाती है। टानी कहते हैं कि छपी पुस्तक मे कई प्राकृत काव्य इस प्रसग के नही दिए हैं जो एक प्रति मे हैं। सभव है कि उनमें कुछ और हिंदी कविता रही हो।

सउचित्तहरिसट्ठी मम्मणह वत्तीस डीहिया।
हियम्मि ते नर दड्ढ सीझे जे वीससइ थिया॥

पाठातर—चित्तहसट्ठी मणह, अस्सी ते नर, हरिसट्टी मम्मणछुत्ति, हिअम्मि, पचासडीहिया, हियम्मी, सिय जे पत्तिज्जइ ताह, अम्मी सीजें, पतिठवइ तियाह।

अर्थ—सव (के) चित्तो को हर्षित करने (या हरने) के अर्थ प्रेम की वातें वनाने मे चतुर स्त्रियो मे जो विश्वास करते हैं वे हृदय मे वहुत दुख पाते हैं। पाठातरो से इस दोहे के कई रूपातर हो यह जान पडता है। जे पत्तिज्जइ ताह (जो पतीजते है उन्हें या उनमे) से जान पड़ता है कि पूर्वार्द्ध का अंत और तरह भी रहा हो। 'मम्मणह वत्तीस' का अर्थ कामदेव की वातें किया जाता है, किंतु पाठातरो मे छत्ति (स), पञ्चास, मिलने से सभव है कि यह वत्तीस भी सख्या हो और इसमे स्त्रियो के पुरुषो को मोहन करने की कलाओ की परिसख्या हो, जैसे नाई को छत्तीसा या छप्पन्ना कहते हैं। छप्पन्ना का अर्थ, ५६ कलायुक्त नही, किंतु छह वुद्धिवाला (सं० षट्प्रज्ञ) है, षट्प्रज्ञ वुद्ध की उपाधि भी है।

सउ—सव, राजस्थानी सँ, सौ, मारवाडी सॅग (हैंड)। हरिसट्टी—हर्ष + अर्थ, या हर (ण) + सार्थ, राजस्थानी साठे = हाठे = आठे य आटे = वास्ते, मराठी साठी = लिये। मम्मणह—मन्मथ = कामदेव, या मणमण करना, महीन महीन वातें (चोचले), ह = का। वत्तीस—वातो मे। डीहियाँ—चतुरो (स०दक्ष) में, गुजराती मारवाडी डाह्या, डीहि = दीर्घ, वढीचढी, मिलाओ स० दीर्घिका (वावडी) = हि० दिग्घी, डिग्गी, डीघी। हियम्मि—स० स्मिन् और हि० मे के वीच मे 'म्मि' है। दड्ढ—दृढ। सीझे—दुःख पाता है। राजस्थानी। सीझना = गलना या पकना (दाल का) स० सिध्यति से है, सभव है कि यहाँ पाठ खीझे हो जो स० खिद्यति से है। वीससइ—विश्वास करते हैं। पत्तिज्जइ = पतीजते है, पतियाते है, प्रत्यय करते हैं, सहसा जनि पतियाहु (तुलसीदास), पंजाबी मे पतियाने का अर्थ मानना या रिझाना भी है। पतिम्वइ—केवल पत्तिज्जइ का लेखप्रमाद है, अनुस्वार पर आगे टिप्पणी देखो। थियाँ, तियाँह—स्त्रियों मे।

(६)

झोली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छारपुंज ।
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मक्कड तिम मुंज ॥

[कुछ बदला हुआ रूप आधुनिक हिंदी का सा—
जलि टूटि किमि न मुआ, किम न हुयो छरपुंज ।
हिंडै डोरी बांधियो जिमि मक्कड तिमि मुंज ॥]

पाठांतर—झोली तुट्टि वि किं न कउ मुयउं, छारहपुंज, घरि घरि तिम्मं नचावइ जिम, तुटवि, झोली त्रुटी, हूयउ ।

अर्थ—(आग मे) जलकर या (फाँसी की रस्सी) टूटकर (मैं) क्यो न मरा ? राख का ढेर क्यो न हुआ ? डोरी से बँधा हुआ जैसे बंदर घूमता फिरता है वैसे मुंज (फिरता है) । पाठांतरों में—झोली (फाँसी का फंदा) टूटकर भी कुछ न किया. . घर घर वैसे नचाया जाता है, जैसे . . ।

झाली—जलकर सं० ज्वल, राजस्थान मे आग की लपट (ज्वाला) को झाल या झल कहते है । तुट्टी, तुटवि—तूट (टूट, सं० त्रुट) कर । मुअउ—मृत (हुआ), ऐसे ही हुयउ—हुआ । किं—क्यो । छार—मात्रा के लिये छर पढ़ो, छार और राख दोनो भस्म के अर्थ मे एक ही देशी पद के व्यत्यय है, सं० क्षार (खारा) से केवल सादृश्य है, राख से संस्कृत रक्षा बनाया गया है । हिंडइ—सं० हिंडति, घूमता है, पंजाबी हुडना = भटकना, जैसे गलियाँ दा हुडना छांड़ि देइँ कान्हा, हुण होया तूं घरबारी (गीत—कान्ह ! तुम गलियों का भटकना छोड़ दो, अब तुम गृहस्थी हो गए हो, हुण = सं० अधुना) दोरी—देखो ऊपर (३) । मकड—सं० मर्कट । पुराने लेखक द्वित्व वाला अक्षर बताने के लिये दुबारा अक्षर (युक्त) लिखने के परिश्रम से बचने के लिये अक्षर पर अनुस्वार के सदृश बिंदी लगा दिया करते थे, वही कई शब्दो मे लेखकभ्रम से 'न' श्रुति हो गई, जैसे, सं० मर्कट—प्रा० मक्कड (लिखा गया) मकड—भ्रम से मङ्कड, सं० खड्ग-प्रा० खग्ग-खग, हिंदी खड्ग, ऊपर (५) मे पतिज्जइ का पतिंजइ, सं० अत्यद्भुत—प्रा० अच्चब्भुअ-अच्चभुअ-हि० अचंभा, इत्यादि ।

पूर्वकालिक क्रिया के रूपो पर टिप्पण—संस्कृत वैयाकरणो ने त्वा (गत्वा, कृत्वा) को पूर्वकालिक की प्रकृति और य (सत्कृत्य, संगत्य) को धातु के पहले उपसर्ग आने पर विकृति माना है, किंतु पुरानी संस्कृत मे यह भेद नही है ।

'अकृत्वा' और 'गृह्य' दोनो मिलते हैं। वेद मे 'कृत्वाय' मिलता है और पाली मे 'छित्वान' और 'कातून'। अतएव पाँच तरह के रूप हुए, कृत्वा, कृत्वाय, कृत्वान, कर्तून, कर्य (कृत्य)। सूक्ष्म विचार मे ये अव्यय नहीं किंतु 'तु' अन्तवाले धातुज शब्द के तृतीया और चतुर्थी के रूपो के से जान पडते हैं, कृत्वा = कृतु से, करने मे = कर कर, इत्यादि। प्राकृत मे 'त्वा' बिलकुल नहीं है, 'य' है या पाली वाला 'त्वान,' 'तून' जो 'तूण' या 'ऊण' होता हुआ मराठी के ऊन, ऊणून तक पहुँच गया है और मारवाडी मे करीने, लडीने मे रहा है। पुरानी हिंदी अर्थात् अपभ्रंश मे 'पोमिग्रवि' 'चोरिलवि' आदि आते हैं। वहाँ भी य = इय = इ है। हिंदी मे 'य' 'इ' के रूप मे आता है (आइ, मुनि=आय, मुन्य—ग्र० आयात्य श्रुण्य (!), अब 'इ' भी उड गया है, और कर धातु ने पूर्वकालिक का अनुप्रयोग होता है जैसे खा कर = (पु०हि०) खाइ करि = पंजाबी, खाई करी = म० *खाद्य कर्य (!)।

(७)

गय गय रह गय तुरग गय पायक्कडा निभिच्च।
सग्गट्ठिय करि मन्तणउ उम्मुहहु (ता?) रुद्दाइच्च॥

पाठांतर—पायकडा, ठकुर रुद्दाइच्च, उमुड, मतण् महता।

अर्थ—(जिसके) गज, रथ, घोडे और पैदल चले गए हैं, जो बिना नौकर के हैं (ऐसे मुझ को) हे स्वर्गस्थित रुद्रादित्य! बुला ले। मैं तुम्हारी ओर मुँह किए हुए हूँ।

गय—गत, 'गए'। गय—गज। रह—रथ। तुरय—तुरग। पायक्कडा—डा के लिये (१) मे सदेसडो की टिप्पणी देखो। पायक—पैदल, पदाति, पदग, पाजी (पुराना अर्थ), जाके हनूमान से पायक (तुलसीदास)। निभिन्च—निभृत्या। सग्गट्ठिय—स्वर्गस्थित। करि—कर (आज्ञा) मतण—(आ) मत्रण, बात करना, बुलाना। उम्मुह—उन्मुख। रुद्दाइच्च—रुद्रादित्य।

(८)

मुंज गलियो मे माँगता फिरता था। पहले कैदियो का यों अपमान किया जाता था। हाथ मे उसके पडुआ (पत्तो का दोना) था। किसी स्त्री ने छाछ पिला दी और घमड से सिर मटकाकर भीख न दी। मुज बोला—

भोलि मुधि मा गव्वु करि पिक्खिवि पडुगुपाइ।
चउदसइ सइ छहुत्तरइ मुज्जह गयह गयाइ ॥

पाठातर—धनवती म गव्वु, पडुरुग्राइ, पट्टकरुपाणि, पडुकयाणि, पडुकरुपाणि, चउदसइ, छउत्तर ।

अर्थ—हे भोली, हे मुग्धे, (पाठातर मे—हे धनवती) मत गर्व कर, मुझे हाथ मे पडुग लिए देखकर, चौदह सौ छिहत्तर मुंज के हाथी (चले) गए।

मुधि—स० मुग्धा, मारवाड़ी मे मोधा मूर्ख को कहते हैं। यह 'न' भी स० मुग्ध प्रा० मुध्ध के द्वित्वसूचक चिह्न से बना है, देखो, (६) मे मकड की व्याख्या। पिक्खिवि—पेखकर। पडुगु—पडुग्रा, पत्तो का दोना, या भीख माँगने का पात्र। पाइ—पाणि, हाथ। सइँ-सै, सौ। चउदसइ, सइ, छहुत्तरइ, गयाइं—मे इ कर्ताकारक का नपुंसक का वहुवचन (स० नि०) है और मुजह, गयह—मे ह सवधकारक का है।

(९)

जा मति पच्छइ सपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ ॥

अर्थ—जो मति पीछे सँपजती (होती) है वह मति पहली होय तो मुज कहता है कि हे मृणालवति! कोई विघ्न नही घेरे।

जा सा—जो सो (स्त्रीलिग)। सपज्जइ स० सपद्यते, स + पद् = सपजना, उद् + पद् = उपजना, निस् + पद् = निपजना। वेढइ—घेरता है, पजाबी वेढा, घिरा हुआ मकान, जनाना, वेढ पूरी—बीच मे कचौरी की तरह भरी हुई। शास्त्री का अर्थ है—विघ्न को कोई नही वहता (उठाता), टानी का 'कोई (मेरे मार्ग मे) विघ्न नही डालता'।

(१०)

सायर पाई लंक गढ गढवइ दससिरि राउ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुज म करि विसाउ ॥

अर्थ—सागर खाई, लंका गढ और दससिर राजा (रावण) गढपति—भाग्य का क्षय होने पर वही तहस नहस हो गया, (तो) हे मुज, विषाद मत कर।

गढवइ—गढपति, मिलाओ चक्रवति—चक्कवइ—चक्कवै। भज्जिगय-टूट गया 'भाँज गढ' वाला। √ भज धातु, सस्कृत मे भग्न का अर्थ टूटा या हारा होना है, उसी से हिंदी √ भागना बना, आगे देखो 'अह भग्गा अम्हत्तणा' आदि।

[राजा मुज, पुरानी हिंदी का कवि—धार के परमार राजा मुज (वाक्पति राजा द्वितीय, उत्पलराज अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ अथवा श्रीवल्लभ) ने कल्याण के सोलकी राजा तैलप दूसरे पर चढाई की और तैलप ने उसे हराकर निर्दयता से मारा—यह तो ऐतिहासिक सत्य है क्योंकि चालुक्यो के दो लेखो मे इस बात का साभिमान उल्लेख किया है। मुज के मत्री का नाम रुद्रादित्य था, यह उसी के वि० स० १०३६ (सन् ६७६ ई०) के दानपत्र से प्रकट है। मुज का प्रथम दानपत्र स० १०३१ का है और उसकी मृत्यु उसके राजकाल मे अमितगति ने सुभाषितरत्नसदोह के पूर्ण होने के सवत् १०५० और तैलप की मृत्यु के स० १०५५ के बीच मे होनी चाहिए। यो राजा मुज विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के दूसरे चरण मे था (मुज तथा भोज के कालनिर्णय के लिये देखो ना० प्र० पत्रिका नवीन स०, भाग १, अक २, पृ० १२१—५, और गौ० ही० ओझा, सोल-कियो का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७६—८०)। प्रबध चिंतामणि मे लिखा है कि मारे जाने के समय मुज से कहा गया कि अपने इष्ट देवता का स्मरण करो तो उसने कहा 'लक्ष्मी गोविंद के पास चली जायगी, वीरश्री वीरो के घर चली जायगी किंतु यशपुज मुज के मरने पर सरस्वती निरालब हो जायगी।' चाहे यह मुज की रचना न होकर उस समय के किसी कवि की हो किंतु इसमे सदेह नहीं कि वह विद्या और विद्वानो का अवलब था। उसके समय मे जैसा ऊपर कहा जा चुका है अमितगति ने सुभाषितरत्नसदोह बनाया। सिधुराज के गीतिकाव्य नवसाहसाकचरित का कर्ता पद्मगुप्त, धनपाल, दशरूप का कर्ता धनजय और उसका टीकाकार धनिक उसके आश्रित थे। पिंगलसूत्र का टीकाकार हला-युध उसी के समय मे था। प्रबधो मे और सुभाषितावलियो मे मुज के बनाए कई श्लोक दिए हैं और क्षेमेंद्र ने, जो मुज से ५० वर्ष ही पीछे हुआ, उसका एक श्लोक उद्धृत किया है। अब यह प्रश्न उठता है कि जिन दोहो की व्याख्या हम कर चुके हैं वे क्या स्वय मुज के बनाए हैं? हमारे दशवें दोहे की व्याख्या मे शास्त्री कहते हैं कि यह 'रिपुनारी वाक्य'

है किंतु इसमे मुज ने अपने ही को सबोधन किया हो तो क्या आश्चर्य है ? प्रवधचिंतामणिकार के समय (स० १३६१) तक तो यह ऐतिह्य था कि ये दोहे मुज के है। जो श्लोक दूसरे कवियो के बनाए जाने गए है और इन प्रवधकारो ने दूसरे कवियो या राजाओ के सिर मढ दिए है उनके कारण ऐसे प्रसिद्ध दोहो पर सदेह नही कि जा सकता। ऐसे दोहे दतकथाओ मे रह जाते है और दतकथाओ को छोडकर उनकी रचना के बारे मे कोई प्रमाण नही है। बीकानेर के पृथ्वीराज ने राणाप्रताप को सोरठे लिख भेजे, मानसिंह को अकबर ने 'सभी भूमि गोपाल की' वाला दोहा लिख भेजा, नरहरि कवि का 'अरिहु दत तृन गहहिं' वाला छप्पय अकबर के सामने पेश किया गया, 'ब्रह्म भनै सुन शाह अकब्बर' आदि दोहे बीरबल ही के हैं, हुलसी.वाली उक्तिप्रत्युक्ति खानखाना और तुलसीदास के बीच मे हुई थी, इत्यादि बातो का ऐतिह्य को छोडकर और क्या प्रमाण है ? वही प्रमाण यह मानने को है कि ग्यारहवी शताब्दी के द्वितीय चरण मे, प्रसिद्धविद्याप्रेमी भोज का चाचा, परमार राजा मुज पुरानी हिंदी का कवि भी था। एक प्रमाण और है—हेमचद्र के व्याकरण मे जो अपभ्रश के उदाहरण दिए है उनमे एक दोहा यह है—

> वाह विछोडवि जाहि तुहु हउ तेवँइ को दोसु।
> हिअयट्ठिय जइ नीसरहि जाणउ मुंज सरोसु॥

अर्थात् बाँह विछुडा कर तू जाता है (या जाती है), मैं भी वैसे ही (जाता हूँ या जाती हूँ) (इसमे) क्या दोष है ? हृदय (में) स्थित यदि (तू) निकले तो, मुज (कहता है कि, मै) जानूँ (कि तू) सरोष है। चौथे चरण का यह अर्थ भी हो सकता है कि 'तो मैं जानूँ कि मुज सरोष है'। दूसरा अर्थ सीधा जान पड़ता है किंतु मुज की कविताओ मे नाम देने की चाल देखकर पहला अर्थ भी असभव नही है। यह दोहा हेमचद्र के पहले का है। इससे दो ही परिणाम निकाल सकते हैं। एक तो यह कि सूरदास (?) के—

> बाँह छुडाए जात हो निबल जान के मोहि।
> हिरदे से जब जाहुगे तो मै जानौं तोहि॥—

इस दोहे के पितामह 'वाह बिछोडवि' आदि दोहे का कर्ता राजा मुज था और यह मुज के नाम से अकित दोहा स० ११९९ (कुमारपाल की गद्दी-नशीनी का समय जिसके पहले तो हेमचद्र का व्याकरण बन चुका था) से पहले प्रचलित था। दूसरा यह कि यदि दूसरा अर्थ मानें तो जिस नायिका ने

फिसलनी भूमि वाला दोहा (ऊपर, संख्या ३) मुंज की निंदा या उसी की कृति यह भी हो। दोनों अवस्थाओं में या तो मुंज को कवि मानना पड़ेगा या इन दोहों को उसके समय का बना मानना पड़ेगा। कम से कम यह तो मानना होगा कि यह दोहा सं० ११६६ (रासो के कल्पित समय से ५० साल पहले) से किसी समय पहले की रचना है जिसे उस समय या तो स्वयं मुंज का रचित या किसी से मुंज को प्रेषित माना जाता था।]

(११)

भोज के यहाँ एक सरस्वतीकुटुंब आया जिसकी सूचना भोज के सेवक ने एक संस्कृत-देशी की खिचड़ी का श्लोक बनाकर दी—

वापो विद्वान् बापपुत्रोऽपि विद्वान्
आइ विडपी आईधुआपि विडपी।
काणी चेटी सापि विडपी वराकी
राजन् मन्ये विज्जपुञ्ज कुटुम्बम्॥

बाप भी विद्वान् है, बाप का पुत्र भी विद्वान् है, मा पडिता है, मा की बेटी भी विदुषी है, बेचारी कानी दासी है वह भी विदुषी है, राजन्! मानता हूँ यह कुटुंब विज्ञो का पुंज है।

बाप—पिता, यह देशी है किंतु हेमकोश के शेषकांड में संस्कृत माना गया है। प्रबंधचिंतामणि में इसका संस्कृतीकृत रूप वप्तृ (वप्ना-बीज बोनेवाला) भी आया है (पृ० ३०१) (देखो पत्रिका, भाग १, अंक ३, पृ० २४६, टिप्पण १६)। आई—माता (मराठी)। धुआ—बेटी, सं० दुहितृ, पंजाबी धी। विज्ज—विज्ञ।

पाठांतर—वप्पो, विद्गी, विध्री, विदुनी, विज, विद्व, केवल लेखप्रमाद हैं।

(१२)

राजा ने उनमें से ज्येष्ठ की पत्नी को समस्या दी—कवणु पियावड खीरु? उसने यह पूर्ति की—

जइ यह रावणु जाईयउ दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउ खीरु॥

पाठांतर—जेइ।

अर्थ—जब यह रावण दस मुँह और एक शरीर वाला जनमा तो माता अचभे मे आकर सोचती है कि कौन (मे मुख) को दूध पिलाऊँ ?

जाईयउ—जायो। वियम्भी—विस्मिता। चितवइ—चितवै। कवणु—कौन। पियावउ—पियाऊँ। खीर—स० क्षीर, दूध, सिधी खीर अत्थि ? दूध है क्या ?

(१३)

दूसरी समस्या दी—कठि विलुल्लइ काउ ? इसकी पूर्ति कानी चेटी ने यो की।

काए वि विरहकरालिइ पइ उड्डावियउ वराउ।
सहि अच्चभूउ दिट्ठ मइ कण्ठि विलुल्लइ काउ ॥

पाठातर—अच्चिभू। 'अच्चब्भुअ' ठीक होता।

अर्थ—किसी विरह से दुखिया स्त्री ने खिझकर विचारे पति को उडा दिया। हे सखि ! मैने यह अति अचरज देखा कि अब किसके कठ का सहारा लिया जाय ? कलहातरिता पहले तो पति को भगा चुकी है, अब मान टूटने पर पछताती है कि हाय ! किसके गले से लिपटूँ ?

काए—किसी से या कैसे। करालिइ—करालिता (कराल हुई) से। पइ–पति। उड्डावियउ—उडावियो (गुजराती)। वराउ—वराक। अच्च-भूउ–अत्यद्भुत—देखो ऊपर (६)। दिट्ठ–दीठो। मइ–मैं, कर्मवाच्य मे कर्ता कारक, 'ने' लगने से (मैंने) दुहरा कारक चिह्न लगता है। कण्ठि–कठ मे। विलुल्लइ–लटका जाता है, विलमा जाता है। काउ किसके।

ये दोनो दोहे कुमारपाल प्रतिबोध मे कुछ पाठातरो के साथ दूसरे प्रसग मे हैं। अगला लेख देखो। पिछला हेमचद्र मे भी है।

(१४)

एक समय भोज रात को नगर मे घूम रहे थे कि एक दिगबर को एक गाथा पढते सुना। बेचारा दिगबर तो हो गया था किंतु उसकी हविश पूरी नही हुई थी। दूसरे दिन भोज ने उसे बुलाया और उसके मनसूबे जानकर उसे अपना सेनापति बनाया। पीछे उसी कुलचद्र ने अनहिलपट्टन जीतकर जयपत्र प्राप्त किया। वह गाथा या दोहा यह है—

एऊ जम्मु नग्गुह गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खा तुरिया न माणिया गोरी गलि न लग्गु ॥

अर्थ—यह जन्म अकारथ गया, सुभटो के सिर पर (मेरी) तलवार नहीं टूटी, तीखे (तेज) घोडो का उपभोग नहीं किया, न गोरी (युवती) के गले लगा।

पाठांतर—आउ (=आयु), निग्गुहु, नग्गहु।

शास्त्री ने 'भडसिरि खग्ग' को एक पद लेकर अर्थ किया है 'भट-श्रीखड्ग'। तिक्खा का अर्थ 'तीक्ष्ण स्त्रीकटाक्ष' किया है और 'तुरिया' का अर्थ 'तूलिकादि शय्योपकरण' (रामायण की 'तुराई')। टानी 'तिक्खा तुरिया' का अर्थ कर्कश स्वर-युक्त बाजे (स० तूर्य) करते है।

एउ—यह, यो। नग्गुह-निर्ग्रह (स०) निष्फल, शास्त्री कहते है नग्गोऽह' मैं नगा या दिगंबर हूँ या निर्गृह। भड—मारवाडी मे वीर को अबतक 'भड' कहते है, विशेष कर ताने मे। माणियाँ—उपभोग किया, (स०) मदन किया, मिलाओ मारवाडी—सेजाँ माणीज्यो, गोरी ने माणज्यो ढोला (गीत)। गोरी-नायिका के लिये साधारण शब्द, अब भी हिंदी, पंजाबी, राजस्थानी गीतो मे आता है। हेमचद्र ने भी इस पद के इस अर्थ का उल्लेख किया है।

(१५)

प्रबंधचिंतामणि की एक प्रति मे उसी होमिलेवाले कुलचंद्र का (जो कवि भी था और जिसे सुंदर कविता के लिये भोज ने एक सुंदर दासी दी थी। एक दोहा और दिया है—

नव जल भरीया मग्गडा गयणि धडक्कइ मेहु।
इत्थतरि जरि आविसिइ तउ जाणीसिइ नेहु॥

अर्थ—मार्ग नए (बरसाती) पानी से भरे है, गगन मे मेघ धडकता है, इस अंतर (अवसर) मे जो (तू) आवेगा तो नेह जाना जायगा। मुंज की रसीली तो बरसात मे आना असंभव जानकर 'गँवार' नायक को पहले ही बुलाती थी, किंतु कुलचं उस समय आने ही को नेह की परीक्षा मानता है।

भरिया—भरे हुए। मग्गडा—देखो सदेसडो (१)। जरि—जब, यदि, मारवाडी मे जर, जरा अब भी समयवाचक जब के लिये आता है। जाणीसिइ-जाना जायगा, स० 'स्य' को 'सि' मे पहचानो।

(१६)

भोज ने सभा मे बैठकर गुजरातियो के भोलेपन की हँसी की। वहाँ पर उस देश के एक आदमी ने कहा कि हमारे गोपाले भी आपके पंडितो से बढ-

कर हैं। यह समाचार सुनकर गुजरात के राजा भीम (सोलकी) ने एक गोपाल भोज के पास भेजा। उसने राजा को एक दोहा सुनाया जिसपर राजा ने उसे सरस्वतीकठाभरण गोप की उपाधि दी।

भोय एहु गलि कण्ठुलउ भण केहउ पडिहाइ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसितिहि सीम निवद्धी काइँ॥

पाठातर–भोज एव हु कण्ठलउ, स्तभल्लउ, कचुल, लच्छिहि काइँ, सीम विहली, कोइ, पाठातरो मे अधिकरणकारकवाले पद विना 'इ' के भी है।

अर्थ—भोज! कह तो सही, यह (तेरे) गले मे कठला कैसा भाता है? उर मे लक्ष्मी और मुँह मे सरस्वती के वीच यह सीमा बाँधी है क्या? विद्वान् राजा के मुँह मे सरस्वती और प्रभु के उर मे लक्ष्मी—वीच मे कठला क्या हुआ मानो उन दोनो के राज्य की मर्यादा जतला रहा है।

कठुलउ—कठलो, कटलो, गले का गहना। केहउ–केहो, कैसो। पडिहाइ—स० प्रतिभाति। निवद्धी–नि + बाँधी। काँइ-क्यो, किसलिये, क्या।

(१७)

एक समय भोज परिचर्या से रात को नगर मे घूम रहे थे कि उन्होंने किसी दरिद्र की स्त्री को यह दोहा पढते सुना—

माणुसडा दसदस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध।
मह कन्तह इक्कज दसा अवरि ते चोरिहि लिद्ध॥

पाठातर—माणसडी, दस दस हवइ, माणसडा (दस दस) दसइ देवेहि निम्मवियाइ, मुज्झ, नवोरहिं हरियाइ, ते वोरहिं हरियाइं, नवोरहिं लिद्ध। पाठातरो से जान पडता है कि इस दोहे के दो पाठ हैं, एक मे तो सिद्ध लिद्ध की तुक है, दूसरे मे निम्मवियाइ हरियाइ की तुक है।

अर्थ—मनुष्य की दस दस दशाएँ लोकप्रसिद्ध सुनी जाती हैं, या दस दस दशा देवताओ ने वनाई है। अर्थात् जन्म भर मे दश दशा वदलती है, किंतु मेरे कत की एक ही दशा (दारिद्रय) है और (जो थी) उसे चोरो ने हर ली (या और नौ औरो ने ले ली)।

मिलाओ, हस्तिगा दशवर्षप्रमाणा दश दशा किल भवंति (हर्षचरित की सकेत टीका)।

मानुसडा--सबंध कारक के 'ण' और 'ड' के लिये देखो (१) डी--दसा एकवचन के लिये स्त्रीलिंग है, डा-बहुवचन। हवइ--होती है, हवँ, हुवै। सुनियइ--कर्मवाच्य। निम्मवियाइ-निर्मित की गई [सं० ✽ निर्मापितानि] प्रेरणार्थक में प (व) के लिये देखो ना० प्र० पत्रिका, भाग १, अंक ४, पृ० ५०७, टिप्पणी ११। मज्झ--मेरे, मह्यम् से तुल्य, मह्यं चतुर्थी है, चतुर्थी और षष्ठी का प्रयोग वैदिक भाषा में बिना भेद के होता था, वैदिक भाषा में तुभ्य षष्ठी के अर्थ में भी आता है--मम तुभ्य च सवननं तदग्निरनुमन्यताम्। मह, कतह--ह संबंधकारक का चिह्न है। इक्कज में ज 'ही' या 'केवल' के अर्थ में है, मारवाड़ी में बहुतायत आता है, जैसे, आप रोज काम, एकज भूपो (भोपडा)। अवरि--दूसरी, अपरी (सं० ✽), टानी के अनुसार उपरि (ऊपर, अधिक) नहीं। नवोरहि--नव + ओरहि, हिंदी 'और' अपर (= अवर) से बना है, सं० १६७२ तक पुराने पंडित अवर लिखा करते थे-अवर जब अपना होय। नव (एक पत्र न)। लिद्ध--लब्ध, मारवाड़ी, गुजराती, लीधो। हुन्यिाइ--हरी गई।

(१८)

मरते समय भोज ने कहा था कि श्मशानयात्रा के समय मेरे हाथ अरथी के बाहर रखे जायँ। भोज का यह वचन लोगों से एक वेश्या ने कहा--

कसु करु रे पुत्र कलत्र धी कसु करु रे करसण वाडी।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथपग बे झाडी॥

अर्थ--अरे, पुत्र, स्त्री, कन्या किसके हैं? खेती बाड़ी किसके (या सारा बाग किसका?) अकेला आना है और दोनों हाथ पाँव झटकार कर अकेला जाना है।

'कसु करु' का अर्थ टानी ने 'किसका हाथ' किया है और शास्त्री ने 'क्या करूँ', 'पुत्र कलत्र' को दोनों ने संबोधन माना है, धी को दोनों भूल गए। कसु करु-किसका (सं० ✽ कस्य केरक)। धी-बेटी, देखो ऊपर (११); करसण--खेती, या कृत्स्न (शास्त्री)। आइवो, जाइवो--आना है जाना है (टानी)। बे--दो।

(१९)

सिद्धराज जयसिंह समुद्र के किनारे ठहरे हुए थे। एक चारण ने उनकी स्तुति में कविता कही जिसमें से एक सोरठा (¹) दिया है--

को जाणइ तुह नाह चित, तु हालेइ चक्कवइ लउ।
लकहले वाहमग्गु निहालई करणउत्तु ॥

पाठातर—को, हालतु, लक्काले, चक्कवइ लहु ।

अर्थ—सिद्धराज को समुद्र की ओर निहारते देखकर चारण कहता है कि नाथ ! तुम्हारे चित्त (की बात) को कौन जानता है? तू चक्रवर्ती (पद) पाने की चेष्टा कर रहा है, कर्ण का पुत्र (सिद्धराज) लका फल के (लेने के लिये) वाह का मार्ग देख रहा है।

हालेइ—चलता है (स० जघालयति, शास्त्री) लउ—पाने को (स० लब्धु, शास्त्री)। लकहले-लकाफल का। वाह जहाजो का चलना। निहालइ—देखता है। (स० निभालयति) पजाबी मे निहालना—प्रतीक्षा करना। करणउत्तु—कर्ण + पुत्र, राजस्थानी करणोत। पिता के नाम के गौरव से पुत्र को सबोधन करना चारण कविता (डिंगल) का प्रसिद्ध लक्षण है।

(२०)

सिद्धराज जयसिह ने वर्द्धमानपुर (वढवाण) के आभीर राणक (राना) नवघन[1] पर चढाई की और किले की दीवाल तोडकर उसे द्रव्य की वासणियो (थैलियो) की मार से मार डाला। नवघन की रानी के शोकवाक्य ये है—

सइरु नही स राणइ कुलाईउ नकुलाइ इ।
सइ सउ षङ्गारिहिं प्राणकइ वइसानरि होमीइ ॥

पाठातर—सयरू, नहिं, राण, न कुलाई न कुलाई, सईं, पाण, किन वइसारि होमिया।

अर्थ—हे सखियो, वह राणा भी नही है, (हमारे) कुल भी अब नकुल (=नीच कुल) है, (मैं) सती खेंगार के साथ प्राणो को वैश्वानर (अग्नि) मे होमती हूँ।

सईरु—सखियो, रु बहुवचन। सइ-सती। प्राणकइ—प्राण कै=को। वइसानरि—वैश्वानर मे, राजस्थानी वैसादर। होमीइ—होमती हूँ। होमिया—होमे।

---

१. गिरनार के चूडासमा यादवो की राजावली मे कई नवघण नामक राजाओं का उल्लेख है, सभव है यह चौथा नवघन हो और खेंगार उसका उपनाम हो। फार्बस ने रासमाला मे खेंगार को नवघन का पुत्र कहा है, खेंगार और नवघण नाम इन राजाओ मे कई बार आए हैं।

(२१)

राणा सव्वे वाणिआ जेसलु वड्डउ सेठि ।
काहूँ वणिजडु माण्डीयउ अम्मीणा गढ हेठि ॥

अर्थ—सब राणा तो (छोटे) बनिये है, जैसल (सिद्धराज जयसिंह) बडा भारी सेठ है, क्या वणिज (व्यापार) माडा (फैलाया) है (उसने) हमारे गढ के नीचे। (बडे व्यापारी के सामने छोटे का दीवाला निकल जाता है।)

[टानी का उत्तरार्द्ध का अर्थ—बनिए के पेशे की कैसी शोभा नहीं ? हमारा गढ नीचे पड गया।]

सव्वे—सं० सर्व। वड्डउ—बडो। वणिजडु-देखो नरेसडउ (१)। माडीयउ—देखो माणिया (१४)। अम्मीणा—हमारा, देखो (१)। हेठि—नीचे, पजाबी हेठ, और जेठ सब हेठ (रामकहानी)।

(२२)

तइ गडूआ गिरनार काहूँ मणिमत्सरु धरिउ।
मारीता खङ्गार एक्क सिहरु न ढालिउं ॥

अर्थ—हे गुरु (भारी) गिरनार (पर्वत) ! तैने मन मे कैसा कुछ मत्सर धारण किया कि खगार के मारे जाते समय (अपना) एक शिखर भी न गिराया। (जिससे शत्रु कुचले जाते या अपने स्वामी के दुःख मे तेरी सहानुभूति जानी जाती, जैसे कि शोक मे भूषण उतार दिए जाते है)

तइ—तै, तैने। गडुआ—(स० गुरुक), भारी। मारीता—मारे जाते हुए (भाव लक्षण)। सिहर—शिखर। ढालिउ—टाल्यो, ढलकाया।

(२३)

जैसल मोडि मवाह वलि वलि विरूप भावीयउ।
नइ जिम नवा प्रवाह नवघण विणु आवइ नहि ॥

पाठातर—वरुण भावीयइ, नवघण विन आवै नहि।

अर्थ—जैसल (जयसिह) का मर्दन किया हुआ मेरा यान फिर विरूप जान पडता है, जैसे नदी मे नया प्रवाह विना नवघन (नए मेघ, पक्ष मे राजा नवघन) के नही आता।

'जैसल मोडि मवाह' का अर्थ टानी ने किया है 'जैसल, आँसू मत वहाओ।' शास्त्री का अर्थ भी सतोषदायक नही। यह अर्थ भी हो सकता है कि जैसल का मोडा हुआ (हमारी राज्यरूपी नदी का) प्रवाह बुरा लगता है, क्योकि कहाँ नवघन से होनेवाला नदी की वाढ का सुदर प्रवाह और कहाँ दूसरे के पराक्रम से मोडा हुआ प्रवाह ? नवघन का अर्थ दोनो ओर लगता है।

मोडि—मोडकर, मोड < मर्द। मवाह—मद् + वास, मेरा घर (शास्त्री), मेरे मत मे यो पढना चाहिए जैसलमोडिम-वाह, जैसल का मोडा हुआ वास या प्रवाह। वलि वलि—मुड मुडकर, फिर फिर। नइ—नदी, सुरवरनई (तुलसीदास)।

(२४)

वाढी तो वढवाण वीसारता न वीसरइ।
सोना समा पराण भोगावह पइँ भोगवीइ॥

पाठातर—वाटी, तवउ वढमाण, सूना, तइ, भोगिव्या।

अर्थ—हे वढमाण (वर्धमान) शहर ! तू (शत्रुओ से) काटा गया है तो भी भुलाने से भी नही भूला जाता, (मैं अपने) सोने के सदृश प्राणो को भोगावह (नदी) को भोग कराऊँगी। (या हे भोगावह ! मैं तुम्हें उन्हे भुक्त कराऊँगी)।

पूर्वार्द्ध का टानी का अनुवाद—उस (नवघन) का वढाया हुआ वढवान (उसे) भुलाने से भी नही भूलेगा।

वाढी—स० < वृध् के दोनो अर्थ हैं, वढना और काटना। वीसारता—विसरना, स० वि + < स्मर्। समा—बराबर। भोगावह—भोगावर्त नामक नदी (शास्त्री)। पइ—पै (को) या मैं।

इन सोरठो मे कही कही नवघन तथा खेंगार दोनो को एक ही मान लिया जान पडता है।

(२५)

हेमचद्र की माता के उत्तरकर्म के समय कुछ द्वेपियो ने विमान भग का अपमान किया। इससे क्रुद्ध होकर हेमचद्र मालवे मे डेरा डाले हुए राजा कुमारपाल के पास आए और उदयन मंत्री ने राजा से उनका परिचय कराया। हेमचंद्र ने सोचा कि—

आपण पइ प्रभु होइअ कइ प्रभु कीजइ हाथि।
कज्ज करिवा माणुसह बीजउ मागु न आत्थि॥

पाठांतर—काज करेवा माणुसह।

अर्थ—या तो आप समर्थ हों या (किसी) समर्थ को हाथ में कीजिए। मनुष्यों का कार्य (सिद्ध) करने के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।

आपण—अपने। पइ—पै, या। होइअ—होइए। कइ—कै = या। बीजउ—बीजो, दूसरा। मागु-मग्गु, मार्ग। आत्थि-अत्थि (सं० अस्ति) है, राजस्थानी क्यू आथ न साथ (=कुछ है ही नहीं)।

(२९)

एक दिन हेमचंद्र कुमारपाल विहार-मंदिर में कपर्दी नामक मंत्री के हाथ का सहारा लिए जा रहे थे। वहाँपर नाचनेवालों के वस्त्र की डोर पीछे से खींचकर कसी जा रही थी। इसपर कपर्दी ने एक दोहे का पूर्वार्ध कहा और उसके ठहरते ही हेमचंद्र ने उसकी पूर्ति कर दी—

सोहग्गीउ सहि कञ्चुयउ जुत्त उत्ताणु करेइ।
पुट्ठिहि पच्छइ तरुणिजणु जसु गुण गहणु करेइ॥

अर्थ—सुहागन को (या सुहाग को) भी सखियाँ कंचुक से युक्त (साथ) उत्तान (ऊंचा) करती हैं, जिसका तरुणिजन पीठ से पीछे से गुणग्रहण करती है। जिसके गुणों का पीछे से ग्रहण (वर्णन) किया जाय वह अवश्य ऊँचा (बडा) होता है।

गुण—डोरी और सद्गुण दोनों। सोहग्गीउ—सौभाग्यवती भी (हि० सुहागिन)। पुट्ठिहि—पीठ से, पुट्ठे (पूठ) से, (सं० पृष्ठ) ऋ की उ-श्रुति पर ध्यान दो, पीठ पीछे (हि०), पूठपीछे (रा०) मुहाविरा है। पच्छइ—पाछे (मारवाडी)। करेइ—करै।

(३०)

सोरठ के दो चारण 'दूहाविद्या' में स्पर्धा करते हुए अणहिलपुर पाटन में आए। शर्त यह थी कि जिसकी रचना की हेमचंद्र व्याख्या करें वह दूसरे को हरजाना देवे। एक ने हेमचंद्र से मिलने पर यह सोरठा कहा—

लच्छिवाणिमुहकाणि एयइ भागी मुह भरउ ।
हेमसूरि अच्छीणि जे ईसरते ते पण्डिया ॥

अर्थ--इस भागी (भाग्यवान् हेमचद्र) के मुख मे भरे (स्थित हेमचद्र के नेत्र) लक्ष्मी और सरस्वती दोनो के मुखवाले (=युक्त) हैं, जिसपर वे कुछ भी प्रसन्न हो जाते हैं, वे पडित हो जाते है।

यह अर्थ कुछ खैंचकर किया गया है क्योकि सोरठा स्पष्ट नही है। शास्त्री ने एक पाठातर का दूसरा अर्थ दिया है जो बिलकुल ऊटपटाग है। 'लक्ष्मी कहती है कि ये यति (ए यइ) वाणी को मुख मे रखनेवाले है इसलिये (सौत की ईर्ष्या से) मैं मरती हूँ। तो हेमसूरि से छिपे छिपे (हेमसूरि आ छाणि) वे भाग गए, इसलिये जो ईश्वर (समर्थ) हैं वे पडित है, पडित लक्ष्मीवान् नही'।

पाठातर--पयइ, मरउ, सूरिआ छाणि ।

लच्छिवाणिमुहकाणि---मुखक (स०) =प्रभृति, आदि । एयइ—यह ऐसा। भरउ—भयो । ईसरते--ईषद्रते ? (स०) कुछ भी प्रेम करते हुए। छाणि (स० * छन्य छाद्य ?) छिपकर, राजस्थानी–छाने ।

(२८)

वह चारण तो बैठ गया। इतने मे कुमारपाल विहार मे आरती के समय महाराज कुमारपाल आए और उनके प्रणाम करने पर हेमचद्र ने उनकी पीठ पर हाथ रखा। इतने मे दूसरे चारण ने कहा--

हेम तुहाला कर भरउ जाह अच्चपभू रिद्धि ।
जेव पह हिठा मुहा ताह ऊपहरी सिद्धि ॥

पाठातर--जिह अच्चुपुयरिद्धि, जे चपह हिठा मुहा तीह उवहरी सिद्धी।

अर्थ--हे हेम, तुम्हारा हाथ जिन पर भरा (रक्खा) है उनके तो अचभे की सी रिद्धि होती है और जिनका मुँह नीचा होता है (या जो नीचे मुख से [आपके पाँव] दबाते है) उन्हे आपने सिद्धि उपहार मे दी। यह अर्थ शास्त्री और टानी दोनो के अर्थ से भिन्न है, वे दोनो सतोषदायक नही है। चारण कुमारपाल की अचभे की सी संपत्ति को हेमचद्र के पीठ पर हाथ रखने और सिद्धि के उपहार को नीचे मुँह से पैरो मे प्रणाम करने के कारण मानता है। यह विरोधाभास भी हो सकता

है कि मुंह नीचा और सिद्धि ऊँची (उपहरी)। कवि की इस अछूती उक्ति पर राजा प्रसन्न हुआ और उससे दोहा बार बार पढ़वाया। तीन बार पढ़कर चारण ने, शिवाजी के सामने भूषण की तरह बे-मवरी ने कहा कि क्या प्रति पाठ पर लाख दोगे? राजा ने तीन लाख दिए। कहानी अधूरी है, हेमचद्र ने किसी को न सराहा। न मालूम उनकी होडाहोडी का क्या हुआ।

तुहाला—तुम्हारा, तुहाडा (पजाबी) देखो (१)। जाह—जिसमें, जहाँ। [अच्चम्भू-अत्यद्भुत, देखो (६), (१३)। जे चपह–जो दवाते हैं (चरणो को), पगचपी (राजस्थानी) पैर दवाना। जेंव–जिनका। पह पैरो पै। हिट्टा—हेठा, देखो (२१)। ऊपहरी—उपहार दी गई। (स० उपहृता) या ऊपर की, ऊँची।

(२९)

जब कुमारपाल शत्रुजय तीर्थ मे गए तो वहाँ एक चारण को प्रतिमा के सामने यह सोरठा नौ बार पढते देखकर उन्होंने नौ सहस्र दिए—

इक्कह फुल्लह माटि देग्रइ सामी सिद्धि सुहू।
तिणि सिउ केही साटी भोलिम जिणवरह॥

पाठातर—देवइ सिद्धि सुठु…केहि साटि कटि (रि?), रे भाति (लि?) म, तिणिसउं।

अर्थ—एक फूल के लिये, एक फूल की खातिर, स्वामी निर्लिप्त (या सौ सिद्धि) देते है, इसी तरह हे जिनवर आप किसलिये (इतने) भोले है? या जिनवर का इतना भोलापन क्यो है? टानी ने तिणिमउ का अर्थ किया है 'यह निश्चित है (तन्निश्चित!)। इसलिये जिनवर को कभी न भूलो' (भोलि म)।

माटि—लिये, खातिर। तिणि सिउँ—उससे (उस कारण से), (सं० तन्निश्रया शास्त्री) उसी प्रकार से। केही साटी-किसलिये, देखो (५) किस बदले मे। भोलिम–भोलापन।

(३०)

कुमारपाल का उत्तराधिकारी और भतीजा अजयपाल बड़ा निर्दयी था। उसने जैनो पर उतने ही अत्याचार किए जितनी उसके पूर्वज ने भलाइयाँ

की थी उसने गिन गिनकर विद्वानो और प्रधानो को मारा। पडित रामचद्र ने सौ ग्रथ वनाए थे, उसे तत्ते तावे पर चढा दिया। वेचारा यह दोहा पढकर दाँतो से अपनी जीभ काटकर वेदना से मर गया।

महिवीढह सचराचरह जिण सिरि दिह्णा पाय।
तसु अत्थमण् दिणेसरह होउत होइ चिराय॥

पाठातर--जिणि सिरि दिन्ना, दिणमरसु, होइनु होहु, विराय।

अर्थ--पृथ्वी के पीठ पर जिसने सचराचर सब (भूमडल) के सिर पर पाँव दिया उसी दिनेश्वर (सूर्य) का अस्त होता है, सच है, जो होना होता है वह देर से कभी न कभी भी होकर रहता है।

महिवीढह--महीपीठ (में या का), पीठा (स०)--हि० पीढा। सचराचरह (मे या का)। जिण सिरि दिह्णा पाय का शास्त्री ने अर्थ किया है जिसने श्री दी प्राय (!)। तसु--तासु। अत्थमण्--स० अस्तमन अँथवणो आथणो (=अस्त), आथण (सायकाल) आँथूणी (=पश्चिम दिशा), राजस्थानी। होउत--भवितव्य।

चौथे चरण का टानी का अनुवाद--'होना पडता है और वहुत काल के लिये होगा'।

(३१)

सिद्धसेन दिवाकर को केतलासर ग्राम को जाते हुए एक वृद्धवादी मिला उसने रोककर कहा, विवाद करो। सिद्धसेन ने कहा, नगर मे चलो, वहाँ पुरवासी मध्यस्थ होगे। वृद्धवादी ने कहा, ये गोआले ही सभ्य है, ये ही निर्णय कर देंगे। सिद्धसेन ने सस्कृत मे वहुत कुछ कहा, फिर वृद्धवादी ने एक गाथा पढ़ी जिसे सुनकर ग्वालो ने कहा तुम ही जीत गए, दूसरा कुछ नही जानता। वह गाथा यह है--

नवि मारीयए नवि चोरीयए परदारगमण निवारीयए।
थोवा विहु थोव दाइयए इम सग्गि टगमगु जाईयए॥

अर्थ--न मारिए, न चोरिए, परदारगमन को छोड़िए, थोड़े से भी थोडा दान दीजिए, यो चटपट स्वर्ग जाइए।

नवि--न+अपि। थोवा--थोड़ा (स० स्तोक, हिंदी शब्द मे वही 'ड' आया है, स्तोकक)। दाइयए-दीजिए। सग्गि--स्वर्ग मे। टगमगु-झटपट, हडवडाते हुए।

(३१क)

प्रवध चितामणि मे जितनी पुरानी हिंदी की कविता थी उनका व्याख्यान हो चुका। दो प्रसगो पर उनमे कुछ गद्य भी आया है और वहाँ की कथा रोचक है इसलिये उनका भी उल्लेख यहाँ किया जायगा। कुमारपाल के मत्री साह आवड ने कुकुण के राजा मल्लिकार्जुन को जीतकर उसके सिर के साथ और जो भेंट राजा के सामने रखी उनकी सूची मे सस्कृत के साथ कुछ देशभाषा दी है। वह यह है—शृगार-कोडी साडी (शृगारकोटि साडी), माणिकउ पछेवडउ (माणिक नाम पछेवडा = पक्षपट, दुपट्टा या ओढनी, राजस्थानी पछेवडा), पापखउ हार (पापक्षय हार),…मौक्तिकाना सेडउ (सेडो ? = सेटक, सेर या लडी ?)[1]।

---

१. प्रबधचितामणि की इबारत यह है—शृंगारकोडी साडी १ माणिकउ पछेवडउ २ पापखउ हारु ३ सयोगसिद्धि सिप्रा ४ तदा (मुदा ? तथा ?) हेमकुभा ३२ स्तथा मौक्तिकाना सेडउ ६ चतुदत हस्ति १ पात्राणि १२० कोडी सार्द्ध १४ द्रव्यस्य दड (पृ० २०३)।

इसी प्रसग के वर्णन मे जिनमडन के कुमारपाल प्रबध (सं० १४९२) मे तीन श्लोक दिए है जिनमे अर्थ स्पष्ट होता है—

शाटी शृगारकोटयाख्या पट माणिक्यनामकम्।
पापक्षयङ्कर हार मुक्ताशुक्ति (= सेडउ ?) विषापहाम्॥
हैमान् द्वात्रिशत कुम्भान् १४ मनुभारप्रमाणत।
पण् मूटका(= सेडउ ?)स्तु मुक्ताना स्वर्ण कोटीश्चतुर्दश॥
विश शत च पात्राणा चतुर्दन्त च दन्तिनम्।
श्वेत सेदुकनामान दत्त्वा नव्यं नवग्रहम्॥

(आत्मानद सभा, भावनगर का सस्करण पत्र ३९, पृ० २)।

पापक्षय किसी विशेष प्रकार के हार की सज्ञा थी क्योकि सिद्धराज जयसिह का पिता कर्ण (भोगी कर्ण) जब सोमनाथ का दर्शन करने गया तो उसने प्रतिज्ञा की थी कि पापक्षय हार, चद्र, आदित्य नाम के कुडल और श्रीतिलक नाम अगद (बाजूबद) पहनकर दर्शन करूँ (वही प ४ पृ० २)। 'सेडउ' के अर्थ मे सदेह हो जाता है किंतु कुमारपाल के राजतिलक के वर्णन मे वही (पत्र ३४, पृ० १) मे हार

दूसरा प्रसग यह है कि एक समय हेमचंद्र ने कपर्दि मंत्री से पूछा कि तेरे हाथ मे क्या है ? उसने उत्तर दिया कि 'हरडइ' (=हरडै, हर्रे)। इसपर हेमचद्र ने पूछा कि 'क्या अव भी ?' कपर्दी ने उनका आशय समझकर कहा कि नही अव क्यो ? अत से आदि हो गया और मात्रा (धन) मे अधिक हो गया। हेमचद्र उसकी चातुरी पर वहुत प्रसन्न हुए। पीछे समझाया कि मैंने 'हरडइ' का अर्थ 'ह रडइ' [=ह (कार) रडइ रटति, रोता हे ? लेकर पूछा था कि क्या हकार अव भी रोता है ? कपर्दी ने उत्तर दिया कि पहले वह वर्णमाला मे अतिम था, अव आपके नाम मे प्रथम वर्ण हो गया और कोरा 'ह' न कहकर ए कार की से वढ गया, अव क्या रोने लगा ?

समयसूचक सारिणी

इस लेख मे जिन ऐतिहासिक वातो का उल्लेख हुआ है उनका आगा पीछा समझाने से लिये उनके सवत् एक जगह लिख दिए जाते हैं—

विक्रम सवत्	घटना
९० से १०००	राजशेखर का लिखा अपभ्रश, भूतभाषा और शौरसेनी का देश-विन्यास।
१०२९ से १०५० तक किसी समय	परमार राजा मुंज का राज्याभिषेक।
१०५० से १०६४ तक किसी समय	मुंज की मृत्यु।
,, ,,	भोज का राज्याभिषेक।
१०३६	मूलराज सोलकी के हाथ कच्छ के राजा लाखा फूलानी का मारा जाना।
११५०	सिद्धराक जयसिह का गद्दी बैठना।

अस्पष्ट पक्ति और है—'मुक्ताना सेतिका क्षिप्ता तस्य शीर्षे सकल्पिका (?) संजाता राज्ञ समग्रैश्वर्यवृद्धि सूचयति स्म' यहाँ सेतिका का अभिप्राय लडी से ही हो सकता है। सभव है कि यही अर्थ सेडउ का भी हो।

कुकण की लडाई के लिये देखो ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ३९९–४०१।

विक्रम संवत्	घटना
११९२ (?) ११५० से ११९९ तक किसी समय	आभीर राणा नवघन की मृत्यु ।
११९९	सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु ।
११९९	कुमारपाल का राज्याभिषेक
१२३०	कुमारपाल की मृत्यु
११९९ से १२३० तक किसी समय	हेमचंद्र के व्याकरण की रचना
१२४९	पृथ्वीराज की मृत्यु
१३६१	प्रबंधचिंतामणि की रचना ।

सोमप्रभाचार्य के कुमारपालप्रतिबोध से

मेरुतुंगाचार्य ने प्रबंधचिंतामणि ग्रंथ सं० १३६१ में बनाया। उसमें कोई कविता उसकी अपनी नहीं है। पुरानी कविता जो उसने उद्धृत की है उसका निम्नतम समय तो उसका समय है, ऊर्ध्वतम समय का पता नहीं। वह कविता पहले लेख में उदधृत और व्याख्यात की जा चुकी है। अब और पीछे चलिए। सं० १२४१ की आषाढ शुक्ल अष्टमी रविवार को अनहिलपट्टन में सोमप्रभसूरि ने जिनधर्मप्रतिबोध अर्थात् कुमारपालप्रतिबोध की रचना समाप्त की।[1] उसमें जो पुरानी हिंदी कविता है, वह इस लेख का विषय है।

सोमप्रभसूरि का कुमारपालप्रतिबोध गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज की चौदहवीं संख्या में छपा है। इसके पांच प्रस्ताव हैं जिनमें लगभग आठ हजार आठ सौ श्लोक हैं[2]। ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश गद्य तथा

---

१. शशिजलधिसूर्यवर्षे शुचिमासे रविदिने सिताष्टम्याम् ।
जिनधर्मप्रतिबोध क्लृप्तोऽयम् गुर्जरेंद्रपुरे ॥ (पृ० ४७८)

२ प्रस्तावपंचकेऽप्यत्राष्टौ सहस्राण्यनुष्टुभाम् ।
एकैकाक्षरसंख्यातान्यधिकान्यष्टभि शतै ॥ (पृ० ४७८)

पद्य मे है, किंतु ३२ अक्षर का एक अनुष्टुप् श्लोक मानकर श्लोको में गणना करने की पुरानी चाल है। इसकी एक प्रति सं० १४५८ की ताडपत्र पर लिखी हुई सपूर्ण तथा एक उससे पुरानी विना मिति की खडित मिली थी। उन्ही पर से मुनि जिनविजय जी ने इस महत्वपूर्ण ग्रथ का सपादन[1] किया है और भूमिका मे कई वहुत उपयोगी वातें वताई हैं जिनमे से कुछ का यहाँ आधार लिया जाता है।

सोमप्रभ आचार्य वृद्धगच्छ की पट्टावलियो मे महावीर स्वामी से तियालीसवें गिने जाते है[2]। इनके शिष्य जगच्चद्र सूरि ने तपागच्छ की स्थापना की। सोमप्रभाचार्य का वनाया हुआ एक सुमतिनाथ चरित्र प्राकृत मे है जिसमे पाँचवें जैन तीर्थकर की कथा और प्रसग से जैनधर्म का उपदेश है। इसकी सख्या साढे नौ हजार ग्रथ (श्लोक) है। दूसरा ग्रथ सूक्तिमुक्तावली है। जो प्रथम श्लोक के आरभ के शब्दो से 'सिदूर-प्रकर' या कवि के नाम से सोमशतक भी कहलाता है इसमे भी सदाचार और जैनधर्म का उपदेश है। ग्रथ वहुत ही अद्भुत है—वह केवल एक श्लोक[3] है। किंतु कवि ने इस श्लोक के सौ अर्थ किए है जिनसे कवि का नाम ही शतार्थी हो गया है। यह एक ही श्लोक व्याख्या के प्रभाव से चौवीसो तीर्थकर, कई जैन आचार्य, शिव, विष्णु आदि अजैन देवो से लेकर स्वर्ण, समुद्र, सिह, हाथी, घोडे आदि का वर्णन करता है और जैन आचार्य वादिदेव सूरि, प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचद्र, गुजरात के चार क्रमागत सोलकी राजा जयसिह (सिद्धराज), कुमारपाल, अजयदेव, मूलराज, कवि सिद्धपाल, सोमप्रभ के गुरु अजितदेव और विजयसिह तथा स्वय कवि सोमप्रभ का वर्णन करके अपने १०० अर्थ पूरे करता

---

१. इतनी अपूर्ण सामग्री पर से भी सपादन वडी योग्यता से किया गया है। इतना कहकर यह लिखना कि पृ० ९० मे पाँच गाथाएँ भी गद्य में घिलमिल छप गई है दोषदर्षिता नही कहलाना चाहिए।

२. क्लाट, इ. ए. जिल्द ११, पृ० २५४।

३. कल्याणसारसवितानहरेक्षमोह
कातारवारणसमानजयाद्यदेव।
धर्मार्थकामदमहोदयधीरवीर
सोमप्रभावमरमागमसिद्धसूरे॥

है। पदच्छेदों से, समासों से, अनेकार्थों से इस एक श्लोक के भागवत के पहले श्लोक 'जन्माद्यस्य यत' की तरह सौ अर्थ करना बड़े पाण्डित्य की बात है। चौथा ग्रंथ यह हमारा कुमारपालप्रतिबोध है। शतार्थ काव्य में कुमारपाल विषयक व्याख्या में दो श्लोक "यदवोचाम = जैसा हमने (अन्यत्र कहा है" कहकर लिखे हैं जो इनके बाकी काव्यों में नहीं हैं, उनमें संभव है कि सोमप्रभ ने और भी रचना की हो। उसी शतार्थ काव्य की प्रशस्ति से जाना जाता है कि सोमप्रभ दीक्षा लेने से पूर्व पोरवाड़ जाति के वैश्य थे, पिता का नाम सर्वदेव और दादा का नाम जिनदेव था। दादा किसी राजा का मंत्री था।

सुमतिनाथचरित की रचना कुमारपाल के राज्यकाल में हुई। उस समय कवि अणहिलपाटन में सिद्धराज जयसिंह के धर्मभाई पोरवाड़ वैश्य सुकवि श्रीपाल के पुत्र, कुमारपाल के प्रीतिपात्र कवि सिद्धपाल की पौषधशाला में रहता था। श्रीपाल का उल्लेख प्रबंध चिंतामणि वाले लेख में आ गया है। यह श्रीपाल सोमप्रभ की आचार्य परंपरा में गुरु देवसूरि का शिष्य था और सोमप्रभ के सतीर्थ्य हेमचंद्र (प्रसिद्ध वैयाकरण से भिन्न) के बनाए 'नाभेयनेमि' काव्य को उसने संशोधित किया था, उस काव्य की प्रशस्ति में श्रीपाल को 'एक दिन में महाप्रबंध बनानेवाला' कहा है[१]। कुमारपाल की मृत्यु सं० १२३० में हुई। उसके पीछे अजयदेव राजा हुआ जिसने सं० १२३३ तक राज्य किया। उसके पीछे मूलराज ने दो ही वर्ष राज्य किया। शतार्थी काव्य में उस तक का उल्लेख है, इसलिये उस श्लोक और उसकी सौ व्याख्याओं की रचना सं० १२३६ तक हुई। कुमारपालप्रतिबोध सं० १२४१ में, अर्थात् कुमारपाल की मृत्यु के ग्यारह वर्ष पीछे संपूर्ण हुआ। उस समय भी कवि उसी कवि सिद्धपाल की वसति में रहता था। वहाँ रहने का कारण नेमिनाग के पुत्र श्रेष्ठि अभयकुमार के पुत्र हरिश्चंद्र आदि और कन्या श्रीदेवी आदि की प्रीति थी। संभवत हरिश्चंद्र ने इस ग्रंथ की कई प्रतियाँ लिखाईं, किंतु प्रशस्ति या

---

१ मिलाओ वि० सं० १२०८ की आनंदपुर के वप्र की प्रशस्ति (काव्यमाला, प्राचीन लेखमाला, नं० ४५) का अंतिम श्लोक—
एकाहनिष्पन्नमहाप्रबंधः श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबन्धुः ।
श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत् प्रशस्ताम् ॥

वह श्लोक, जिसके आधार पर हम यह कह रहे हैं, त्रुटित है। सेठ अभय-कुमार कुमारपाल के राज्य में धर्मस्थानो का सर्वेश्वर अर्थात् अधिकारी था। कुमारपालप्रतिबोध की प्रशस्ति मे सोमप्रभ ने अपने वृहद्गच्छ (वृद्धगच्छ, वड्डगच्छ) के इन आचार्यो का यथाक्रम उल्लेख किया है—मुनिचद्रसूरि और मानदेव (साथ साथ), अजितदेवसूरि (साथ ही देवसूरि आदि), विजयसिंह सूरि, फिर स्वय सोमप्रभ। रचना के पीछे हेमचद्र के शिष्य महेंद्र मुनिराज ने वर्धमान गणि[1] और गुणचद्र गणि के साथ यह ग्रथ सुना। इन सव वातो को लिखकर यह कहने की आवश्यकता नही कि सोमप्रभ सूरि ने सिद्धराज जयसिंह का, कुमारपाल का और हेमचद्र का समय देखा था।

कुमारपालप्रतिबोध मे ऐतिहासिक विषय इतना ही है कि अणहिल्लपुर मे सोलंकी राजा मूलराज के पीछे क्रम से चामुडराज, वल्लभराज (जगझपण) दुर्लभराज, भीमराज, कर्णदेव और (सिद्धराज) जयसिंह हुए। उसके सतानरहित मरने पर मत्रियो ने कुमारपाल को, जो भीमराज के पुत्र क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र, यो जयसिंह का भतीजा था, गद्दी पर विठाया। उसे धर्मजिज्ञासा हुई तो ब्राह्मणो के पशुवधमय यज्ञो के वर्णन से वह शात न हुई। तव वाहड मत्री ने हेमचद्र का परिचय कराया कि गुरु दत्तसूरि ने रायणपुर (वागड) के राजा यशोभद्र को उपदेश दिया, राजा गृहस्थाश्रम छोडकर यशोभद्रसूरि वन गया, उसके पीछे प्रद्युम्नसूरि और देवचद्रसूरि क्रम से हुए। देव चद्रसूरि को मोढ जाति के वैश्य चाच और चाहिनी का पुत्र चगदेव शिष्य मिला

---

१ यह वर्धमान गणरत्नमहोदधि का कर्ता वर्धमान नही हो सकता क्योंकि गणरत्नमहोदधि की रचना स० ११९७ (ई० ११४०) मे हो चुकी थी—

सप्तनवत्यधिकेऽष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु ।
वर्षाणा विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहित ॥

वह भी सिद्धराज जयसिंह के यहाँ, सभवत हेमचद्र के पहले, और इसने सिद्धराजवर्णन नामक काव्य भी वनाया था। चालीस वर्ष से कम अवस्था मे गणरत्नमहोदधि के से ग्रथ की कोई क्या रचना करेगा और सं० १२४१ में वह ८४ वर्ष का होना चाहिए।

जो माता पिता की अनिच्छा पर भी अपने मामा स्तमतीर्थ (खभात) के नेमि के समझाने पर दीक्षित हुआ और सोमचद्र कहलाया। यही सोमचद्र विद्वान् होकर आचार्य हेमचद्र बना, सिद्धराज जयसिह के यहाँ मान्य हुआ। उसी के कहने से सिद्धराज ने पाटन मे रायविहार और सिद्धपुर मे सिद्धविहार मदिर बनवाए और उसी ने 'नि शेषशब्दलक्षणनिधान' सिद्धहैमव्याकरण जयसिह देव के वचन से बनाया। (पृ० २२) उस के अमृतोपमेय वाणी विलास को सुनने से जयसिह को क्षणभर भी तृप्ति नही होती थी। यदि आप भी यथास्थित धर्मस्वरूप जानना चाहें तो उसी मुनिवर से पूछें। बस। हेमचद्र आए और राजा ने उपदेश सुना। यहाँ वाहड मत्री द्वारा हेमचद्र का परिचय कराए जाने का उल्लेख केवल 'पूजार्थ' ही है क्योकि राजा होने के पहले ही दुर्गत अवस्था मे ही कुमारपाल हेमचद्र का कृपापात्र था, हेमचद्र ने उसके प्राण बचाए, राजा होने की भविष्यवाणी कही इत्यादि, बातें कई प्रबधो मे प्रकट है। अस्तु। हेमचद्र ने एक एक धर्म की बात ली, उसपर कोई इतिहास या कथा कही, राजा ने कहा कि मै यह करूँगा और यह छोडूँगा। फिर राजा ने उस विषय मे क्या क्या किया यह भी इस ग्रथ मे वर्णित है गुरुशिष्य सवाद रूप से कथा के द्वारा धर्म कहना सनातन रीति हैं। पुराणो मे 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहास पुरातनम्'—इत्न ते कथयिष्यामि' की धारा बहती जाती है। जैन सूत्रो मे, बौद्ध ग्रथो मे सब जगह है। उपदेश की कथाएँ भी सर्वसाधारण है। मद्यपान निंदा मे द्वारकादाह और यादवो के नाश की कथा, द्यूत के विषय मे नल की कथा, (सुवर्ण) चोरी मे वरुण की कथा, तपस्या मे रुक्मिणी की कथा आदि वे ही हैं जो हिंदू पुराणो मे है। विशेष जैन धर्मो पर प्रसिद्ध जैन आख्यानो की कथाएँ हैं। कुछ स्थूलिभद्र की सी अर्ध ऐति हासिक कथाएँ भी हैं। पचतत्र की सी सिहव्याघ्र की कथा भी है। कुल ५७ कथा एँ हैं जिनमे एक 'जीव, मन और इद्रियो की बातचीत' पूर्वलिखित कवि सिद्धपाल की बनाई है। इन सबमे सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक कथानक, प्रासगिक आदि कई चमत्कार हैं।

जिन कथाओ को 'हिंदू कथाएँ' कहा कहते हैं उनके कुछ भेद है। कृष्ण को अरिष्टनेमि ने उपदेश और यदुवश के नाश की चितावनी दी थी। दमयती की रक्षा किसी जैन साधु के आशीर्वाद से हुई। रुक्मिणी का सौभाग्य किसी जिन प्रतिमा के अर्चन से हुआ इत्यादि। जैनो के यहाँ रामायण, महाभारत, पुराण पृथक् है जिनमे कथाएँ भिन्न है। जैनो ने हमारी कथाओ को बदलकर अपने धर्म की प्रभावना बढाने के लिये रूपातर दे दिया यह कहना कुछ साहस की बात है। नदी †

जल लाल भूमिपर वहता है तो लाल हो जाता है, काली पर काला। [कथाएँ पुरानी आर्य कथाएँ हैं, जैन, बौद्ध, वैदिक सबकी समान सपत्ति हैं। पुराणो मे ही कथाओ मे भेद पाया जाता है। एक ही निर्दिष्ट राजा की पुत्रप्राप्ति एक जगह एकादशी व्रत से कही गई है, दूसरी जगह किसी और व्रत से। हिमवत् की वेटी उमा ने शिव का सा पति, कोई कहता है कि घोर योग और तपस्या से पाया, कोई कहता है कि पिना से असहयोग करके, अर्थात् हरितालिका व्रत से, पाया। यदि वौद्धो के दसरथ जातक मे सीता राम की वहन है तो यजुर्वेद मे अविका रुद्र-स्वसा है[1]। यो ही इन कथाओ के पाठातरो को समझना चाहिए। हेमचद्र वडे दूरदर्शी और सर्वमित्र थे। जिनमंडन रचित कुमारपालप्रवध (स० १४९२) से दो कथाएँ उद्धृत कर दिखाया जाता है कि इन कथाओं पर उनका क्या मत था। सिद्धराज जयसिंह से मिलते ही उन्होने 'पुराणोक्त' सर्वदर्शना विसवादिनी यह कथा कही—शख नामक सेठ की स्त्री ने सौतिन के दुख से किसी वगाली जादूगर की औषध खिलाकर पति को वैल वना दिया। पीछे वहुत रोई पीटी और वैल (पति) को जगल मे चराने ले जाती। शिव पार्वती घूमते हुए आ गए, पार्वती ने कथा सुनी और उसके अत्याग्रह से शिव ने वताया कि इसी वृक्ष की छाया मे पशुओ को पुरुष वनाने की ओषधि है। स्त्री ने यह सुन-

१ कुछ वंगला रामायणो तथा काश्मीर की कथाओ मे अद्भुत रामायण के आधार पर यह कथा है कि सीता रावण की स्त्री मंदोदरी की पुत्री थी। नारद ने लक्ष्मी को शाप दिया था कि तू राक्षसी के गर्भ से जन्म ले। इधर गृत्समद ऋषि की स्त्री ने कामना की कि मेरे गर्भ मे लक्ष्मी कन्या रूप से उत्पन्न हो। ऋषि ने एक मंत्रित कुशा इसीलिये घडे मे रक्खी। रावण ने जव ऋषियो को सताकर उनका रुधिर कर की तरह लिया तो इसी घडे में भरा और मदोदरी को यह कह कर सुरक्षित रखने को दिया कि यह विष से भयकर है। रावण के देवकन्याओ आदि से विलास करने से जलकर मदोदरी ने आत्मघात करना चाहा और उसी 'विष से भी भयकर' घट के रुधिर का पान किया। उसके गर्भ रह गया और रावण की अनुपस्थिति मे ऐसा होने की लज्जा से वचने के लिये वह सरस्वती तीर पर गर्भ को गिरा आई। वही पर हल चलाते हुए जनक ने वह गर्भ कन्यारूप मे पाया और उसका नाम सीता रक्खा। [ग्रियर्सन ज० रा० ए० सा०, जुलाई १९२१, पृ० ४२२—४]।

कर सारी छाया रेखाकित करके उसके नीचे का मत्र घामपात बैंग को खिलाया, वह पुरुष हो गया। यो ही सब धर्मों की सेवा करने से सत्य धर्म मिल जाता है, दया सत्य आदि को मानकर सभी धर्मों का पालन करना चाहिए, घास मे जडी भी मिल जाती है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणों ने हेमचद्र पर यह आक्षेप किया कि पाडव आदि हमारे थे जैन झूठे ही कहते है कि वे मुक्ति के लिये हिमालय नही गए इत्यादि। हेमचद्र ने कहा 'हमारे पूर्वसूरियो के वर्णना-नुसार उनकी हिमालय मे मुक्ति नही हुई', किंतु यह पता नहीं है कि हमारे शास्त्रो मे जो पाडव वर्णित है वे वे ही है जिनका व्यास ने वर्णन किया है, या दूसरे। क्योकि महाभारत मे भीष्म ने पाडवो से कहा था कि मेरा सस्कार वहाँ करना जहाँ कोई पहले न जलाया गया हो। वे उसका देह पहाड की चोटी पर ले गए और उस स्थान को अछूता समझकर दाह करनेवाले ही थे कि आकाशवाणी हुई— 'यहाँ सौ भीष्म जल चुके है, तीन सौ पाडव, हजार दुर्योधन और कर्णों की तो गिनती ही नही[1]। इस भारत की उक्ति से ही हम कहते हैं कि कोई पाडव जैन भी रहे होंगे'। बस ऐसे मौको पर हमारे यहाँ जो गडबड मिटानेवाला महास्त्र है, चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से उसमे ओदापन और जग हो, वही यहाँ काम देगा कि—

कल्प[2] भेदेन व्याख्येयम्।

सोमप्रभ की रचना मुख्यत प्राकृत मे है, अत मे एक दो कथाएँ बिल्कुल सस्कृत मे और एक आध अधिकतर अपभ्रश मे है। यो प्रसग प्रसग पर बीच बीच मे सस्कृत श्लोक और पुरानी हिंदी के दोहे भी आ गए है, किंतु ग्रथ प्राकृत का ही है। प्राकृत बहुत सरस, स्फीत और शुद्ध है, कही कही श्लेष बहुत अच्छी तरह लाए गए है। एक जगह प्राकृत लिखते लिखते कवि गद्य मे ही उस समय की हिंदी पर उतर गया है, पर झटपट सँभल गया है—

---

१. अत्र भीष्मशत दग्ध पाण्डवाना शतत्रयम्। दुर्योधन सहस्रं तु कर्णसंख्या न विद्यते।

२. अर्थात् भिन्न भिन्न कल्पो मे भिन्न भिन्न घटनाएँ हुई यह मानकर व्याख्या करो। कल्प का अर्थ कल्पना भी होता है।

'भो आयन्नह मह वयणु, तणु लक्खणिहि मुणामि। इहु वालक एयह घरह कमिण भविस्सइ सामी[1]। इसे ऐतिहासिक विकास को न माननेवाले भले ही महाराष्ट्री प्राकृत कहें किंतु है यह देशभाषा।

कुमारपालप्रतिवोध मे पुरानी हिंदी कविता दो तरह की है,—एक तो वह जो स्वयं सोमप्रभ की और कवि सिद्धिपाल की रचित है। वह डिंगल कविता से बहुत मिलती है और हमने उसके अवतरण अधिक नही दिए हैं। जब पुस्तक छप गई है तब उनका फिर प्रकाशित करना अनावश्यक है। इस लेख के दूसरे भाग मे इन दोनो की अपनी रचनाओ की कविताओ की संख्या और पृष्ठाक दे दिए है और कुछ चुने हुए नमूने। प्रथम भाग मे वह पुरानी कविता सगृहीत है जो सोमप्रभ से पुरानी है और उसने स्थान स्थान पर उदधृत की है। प्राकृत रचना मे कही कही ऐसा एक आध दोहा आ गया है। सोमप्रभ ने ग्रामोफोन की तरह हेमचंद्र की उक्ति नही लिखी है। उसने किसी विशेष धर्म के उपदेश मे कोई पुरानी विशेष कथा जो लोक मे प्रचलित थी हेमचंद्र के मुँह से अपने शब्दो मे कहलवा दी है। कथाएँ उसने गढी नही हैं, प्रचलित तथा पुरानी ली है जो उस समय देशभाषा, गद्य, पद्य मे प्रचलित होगी। फिर क्या कारण है कि सारी कथा प्राकृत मे कहकर वह कोई बीजश्लोक, या कथा का संग्रहश्लोक, या नल ने जो दमयंती से कहा, या नल को खोजनेवाले ब्राह्मण का 'क्व नु त्वं कितव छित्वा' के ढंग का दोहा, प्राकृत मे ही न कहकर अपभ्रंश मे कह रहा है? जहाँ उसने इतिहास या कुमारपाल का धर्मपालन स्वय लिखा है वहाँ तो वह, ग्रथ की समाप्ति के पास वारह भावनाओ के वर्णन को छोडकर, अपभ्रश काम मे नही लाता। वह कथाओ को रोचक वनाने के लिये, उन्हे सामयिक और स्थानिक रग देने के लिये, अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियो के दोहे बीच बीच मे रख रहा है जो सर्वसाधारण मे प्रचलित थे। इन दोहो मे कई हेमचद्र के व्याकरण के उदाहरणो मे है, कई प्रवधचितामणि मे

---

१. भो सुनो मेरे वचन को, तनुलक्षणो से जानता हूँ। यह वालक इस घर का क्रम से होगा स्वामी। आयन्नह मह वयणु = अकनो मो वैन, गुसाइँ जी के 'अवनिप अकनि राम पगु धारे' मे अकन् = आकर्ण, सुनना।

है, कई जिनमंडन के कुमारपालप्रबंध तक चले आए हैं। जो दोहे सं० ११९९ (सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हैमव्याकरण की रचना का संभावित अंतिम समय) में मिलते हैं, जो सं० १२४१ (सोमप्रभ की रचनाकाल) तक मिलते हैं, जो सं० १३६१ (प्रबंधचिंतामणि) में उपलब्ध होते हैं, जो सं० १४९२ (जिनमंडन का कुमारपाल प्रबंध) तक कथाओं में परंपरा से चले आते हैं, यों जिनकी आयु इधर तीन सौ वर्ष है, क्या वे उधर सौ सवा सौ वर्ष के न होंगे? इनमें कथाओं के बीजश्लोक हैं, प्रचलित उक्तियाँ हैं, गायिकाओं के चोचले हैं, वियोगियों और वियोगिनों के विलाप हैं, कहावतें हैं, ऋतुवर्णन है, समस्यापूर्तियाँ हैं, जिन्हें कोई किसी की राजसभा में रचता है कोई किसी की में—अर्थात वह सामग्री है जो अलिखित दंतकथाओं में सुरक्षित रहती है और सदा और सर्वत्र कथा कहनेवाले के दिल को प्यारी है। आज भी राजपुताने में कहानी कहनेवाला जहाँ सुंदरी का वर्णन आया है वहीं बीच में यह दोहा जोड देता है—

कद तैं नाग विसासिया नैण दिया मृग छल्ल।
गोरी सरवर कद गई हंसाँ सीखड हल्ल[1]॥

जहाँ मित्रता का वर्णन आता है वहाँ यह दोहा घुसेडता है—

मो मन लग्गा तो मना तो मन मो मन लग्ग।
दूध विलग्गा पाणियाँ (जिमि) पाणिय दूध विलग्ग[2]॥

जहाँ किसी वीर नारी का प्रसंग आया तो चट ये दोहे आ जायँगे—

ढोल सुणंता मंगलो मूछाँ भौंह चढंत।
चँवरी ही पहिचाणियो कँवरी मरणो कंत॥
ढोल बजंता हे सखी पति आयो मोहि लेण।
वागाँ ढोलाँ मैं चली पति को बदलो लेण॥

---

१ कब तैंने नागों को विश्वासयुक्त किया (कि वे तेरे केशों के रूप में आ गए)? मृगों ने तुझे नयन कब सौंप दिए? गोरी! हंसों से चाल सीखने तू सरोवर कब गई थी?

२. मेरा मन तेरे मन से लगा और तेरा मन मेरे मन में लगा, जैसे दूध पानी से लगा और पानी दूध से।

मैं परणती परक्खियो तोरण री तणियांह ।
मो चूडलो उतरसी जद उतरसी घणियाह[1] ।।

अवश्य ही ये दोहे कहानी कहनेवाले के नही है, प्राचीन हैं ।

वस्तुत इन गाथाओ का कुमारपालप्रतिबोध मे वही पद है जो विशेष राजाओ के यज्ञ और दान की प्रशसा की अभियज्ञ गाथाओ का ब्राह्मणो मे । ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण मे ऐंद्रमहाभिषेक और अश्वमेध आदि के प्रसग पर ऐसी नाराशसी गाथाएँ दी गई है जो अवश्य ही ब्राह्मणो की रचना के समय लोक मे प्रचलित थी, और जिन्हें "तदेपा अभियज्ञगाथा गीयते" कहकर ब्राह्मणो मे इसी तरह उद्धृत किया है[2] । वे या वैसी ही कई गाथाएँ महाभारत आदि पुराणो मे उद्धृत की है[3] ।

---

१. विवाह के समय मे मगल के ढोल सुनते ही नायक की मूँछें भौह तक चढ जाती थी तो नायिका ने चँवरी (विवाह मडप) मे ही पति का (युद्ध मे) मरना पहचान लिया ।

हे सखि ! पति मुझे लेने को ढोल बजाकर आया था, मैं भी युद्ध के वागे (वस्त्र) पहनकर और ढोल बजाकर पति का बदला लेने चली हूँ ।

मैंने तोरण के पास विवाह के समय पहचान लिया (नायक की वीरता को देखकर) कि जब मेरा चूडा उतरेगा (मैं विधवा होऊँगी) तब बहुतो का उतरेगा (वह बहुतो को मारकर मरेगा) ।

२. ऐसी कुछ ऐतिहासिक गाथाओ का अनुवाद मैंने मर्यादा के राज्याभिषेक अक मे कर दिया था । (मर्यादा, दिसबर १९११–जनवरी १९१२) ऐसी गाथाओ का एक नमूना यह है—

मरुत परिवेष्टारो मरुतस्यावसन् गृहे ।
आविक्षितस्याग्नि क्षत्ता विश्वेदेवा. सभासद ।।

—शतपथ १३।५।४।६ ।।

३ जैसे महाभारत मे शकुतला की दुष्यत से बातचीत—

माता भस्त्रा पितु पुत्रो यस्माज्जात. स एव स. ।
भरस्व पुत्र दौष्यंति सत्यमाह शकुंतला ।।
रेतोधा पुत्र उन्नयति नृदेव महत. क्षयात् ।
त्व चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुतला ।।

ये पुराणों और ब्राह्मणों के पहले की गाथाएँ पुराणों की बीजस्वरूप हैं और वैसे ही मौकों पर उद्धृत की गई हैं जैसे सोमप्रभ की रचना में अपभ्रंश कविता। भाषाविचार से देखा जाय तो जैसे ब्राह्मणों की रचना में ये गाथाएँ सरल मालूम देती हैं, जैसे भारत आदि की रचना में इन उद्धृत गाथाओं में अधिक सरलता है, वैसे ही सोमप्रभ की कृत्रिम प्राकृत के नए टकसाली सिक्कों से ये घिसे हुए लोकप्रचलित सिक्के अधिक परिचित और प्रिय मालूम देते हैं।

कृत्रिम प्राकृत की चर्चा आने से कुछ उसकी बात भी कर लेनी चाहिए। यह कोई न समझे कि जैसी प्राकृत पोथियों में मिलती है वह कभी या कहीं की देशभाषा थी। महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी नामों से उन्हें वहाँ की देशभाषा नहीं मानना चाहिए। संस्कृत के नए पुराने नाटकों में भिन्न भिन्न पात्रों के मुँह से जो भिन्न भिन्न प्राकृत कहलवाने की चाल है, उसमें भी यह न जानना चाहिए कि उस समय वह जाति या वर्ग वैसी भाषा बोलता था। यह केवल साहित्य का संप्रदाय है कि अमुक से अमुक भाषा या विभाषा कहलानी चाहिए। प्राकृत भी एक तरह की संस्कृत की सी रूढ़ किताबी भाषा हो गई थी। पुराने से पुराने पत्थर और धातु पर के लेख संस्कृत में नहीं मिलते, वे प्राकृत या गड़बड़ संस्कृत के मिलते हैं। उस प्राकृत को किसी देशभेद में आप बाँध नहीं सकते। मागधी का मुख्य लक्षण 'र' की जगह 'ल' और अकारांत शब्दों के कर्ताकारक के एकवचन में संस्कृत स् ( ) या शौरसेनी 'ओ' की जगह 'ए' का आना गिरनार आदि पश्चिमी लेखों में मिलता है और महाराष्ट्री के कई चिह्न पूर्वदेश के लेखों में मिलते हैं। शौरसेनी के कई माने हुए लक्षण दक्षिण की कन्हेरी आदि गुफाओं के अभिलेखों में मिलते हैं। साहित्य की भाषा तो

या कर्णपर्व में शल्य और कर्ण की बातचीत में कई विनोदात्मक गाथाएँ तथा कई जो 'गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः' कहकर उद्धृत की गई है। यथा विष्णुपुराण में—

शनैर्यात्यबला रम्या हेमनि चन्द्रभूषिता।
अलंकृता त्रिभिर्भावैस्त्रिराशुग्रहमस्तिता॥

ऐसी गाथाओं का पूरा तथा तुलनात्मक संग्रह बहुत उपादेय होगा।

सस्कृत उससे प्राकृत, उससे उत्पन्न शौरसेनी, उससे मागधी, पहले की तरह पैशाची, और देशजा ये छह हुई ।

मालूम होता है कि प्रकृति शब्द के अर्थ मे भ्रम होने से तत आगत तदुद्भवा और तत आदि की कल्पना हुई । प्रकृति का अर्थ यहाँ उपादान कारण नही है। जैसे भाष्यकार ने वहुत सुदर उदाहरण दिया है कि सोने से रुचक वनता है, रुचक की आकृति को मोड तोडकर कटक वनते हैं, कटको से फिर खैर की लकडी के अगारे के से कुडल वनाए जाते हैं, सोने का सोना रह जाता है, वैसे भापा से भापा कभी नही गढी गई । यहाँ प्रकृति शब्द मीमासा के रूढ अर्थ मे लिया जाना चाहिए । वहाँ पर प्रकृति और विकृति शब्द विशेष अर्थो मे लिए गए हैं । साधारण, नियम नमूना, माडल उत्सर्ग इस अर्थ मे प्रकृति आता है, विशेष, अलौकिक, भिन्न, अतरित अपवाद के अर्थ मे विकृति आता है । अग्निप्टोम यज्ञ, प्रकृति है, दूसरे सोमयाग उसकी विकृति है। इसका अर्थ यह नही है कि और सोमयाग अग्निष्टोम से निकले है या उमसे आए हैं । अग्निष्टोम की जो रीति है उससे दूसरे सोमयागो की रीति वहुत कुछ मिलती और कुछ कुछ भिन्न है, साधारण रीति प्रकृति मे दिखाकर भेदो को विकृति मे गिन दिया है । पाणिनि ने भापा (व्यवहार) की सस्कृत को प्रकृति मानकर वैदिक सस्कृत को उसकी विकृति माना है, साधारण या उत्सर्ग नियम सस्कृत के मानकर वैदिक भापा को अपवाद वना दिया है वहाँ प्रकृति का उपादान कारण अर्थ मानकर क्या वैदिक भाषा को 'तत आगत' या 'तदुद्भव' कह सकते है, उलटी गगा वहा सकते है ? शौरसेनी की प्रकृति सस्कृत और महाराप्ट्री की प्रकृति शौरसेनी कहने का यही आशय है कि साधारण नियम उनके सस्कृत या शौरसेनी के से और विशेष नियम अपने अपने भिन्न हैं। प्रकृति से जहाँ समानता है, उसका विचार व्याकरणो मे नही है, जहाँ भेद है वही दरसाया गया है । हेमचद्र ने पहले (महराप्ट्री) प्राकृत का व्याकरण लिखा। आगे शौरसेनी के विशेप नियम लिखकर कहा, शेप प्राकृतवत् [८।४।२८६], फिर मागधी के विशेप नियम लिखकर कहा, शेष शौरसेनीवत् (८।४।३०२), अर्द्धमागधी को आर्ष मानकर उसका विवेचन नही किया। फिर पैशाची का विवेचन करके कहा शेष शौरसेनीवत [८।४।३२३] यों ही चूलिका पैशाची के

अपभ्रंश के विशेष नियम लिखकर लिखा शौरसेनीवत् (८।४।४४६) और उपसंहार में सभी प्राकृतों को लक्ष्य करके लिखा शेष संस्कृतवत्सिद्धम् (८।४।४४८) तो क्या उसका अर्थ यह किया जाय कि यह उन भाषाओं का कुर्सीनामा हुआ ? क्या पहली पहली भाषा जनक हुई और अगली अगली उससे आगत या उससे उद्भूत ? नहीं, साधारण नियम 'प्रकृति' में समझाए गए, विशेष नियम 'विकृति' में। यही प्रकृति और विकृति का प्रकृत अर्थ है।

मार्कंडेय के व्याकरण में प्राकृत के इतने भेद दिए हैं—

१ भाषा—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवंती, मागधी, अर्द्धमागधी।

२ विभाषा—शाकारी, चाडाली, शावरी, आभीरी, टाक्की, औड्री, द्राविडी।

३ अपभ्रंश।

४ पैशाची।

यह विभाग परिसंख्या मात्र है, तर्कानुसार विभाग नहीं है। कुछ नाम देशों से बने और कुछ जातियों से बने हैं। प्राच्या पूर्वी बोली है, जो शौरसेनी और अवंती की प्राकृतों से बनी कही जाती है। अवंती की भाषा में कहते हैं कि 'र' का लोप नहीं होता और लोकोक्ति और देशभाषा के प्रयोग अधिक होते हैं। तो वह अपभ्रंश की बहनेली हुई। इसे महाराष्ट्री और शौरसेनी का संकर भी कहा है। अवंती (मालवा) महाराष्ट्र और शूरसेन देशों के बीच में है ही। अर्द्धमागधी तो यहाँ गिन ली, पर चूलिका पैशाची (छोटी पैशाची) नहीं गिनी। शकार की कोई अलग भाषा नहीं है जैसे किसी नाटक का कोई पात्र 'है सो ने' या 'जो है सो' अधिक बोलता हो तो उसकी बोली में वही तकिया-कलाम अधिक आवेगा, वैसी यही हुई बोली शकारी है। चाडाल, शबर जातियाँ हैं। आभीर जाति भी देश भी। टक्क पंजाब का दक्षिणपश्चिमी भाग है जिसकी चर्चा पहले लेख में हो चुकी है, और जहाँ की लिपि टाकरी कहलाई। उड्र उडीसा या उत्कल है। द्राविडी द्रविड की अनार्य भाषा तामिल नहीं, किंतु एक गढ़ी हुई अपभ्रं- है। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी में कविता में महाराष्ट्री और गद्य में शौरसेनी काम में ली है। नाटकों में पात्रानुसार भाषाविशेष का प्रयोग न [illegible]

तत्त्व पर है, न जातिक पर, केवल रूढ सप्रदाय है। वररुचि की महाराष्ट्री और हेमचद्र की जैन महाराष्ट्री मे भी दो मुख्य अतर है—वररुचि कहता है कि वर्ण लोप होने पर दो स्वरो के वीच मे 'य' श्रुति नही होती, जैन 'य' श्रुति मानते हैं, जैसे कविता की महाराष्ट्री मे सरित् का- सरिश्रा, जैन महाराष्ट्री मे ईपत्स्पृष्टतर 'य' श्रुति से सरिया। यह हमारे चिरपरिचित 'गये, गए' झगडे का पुराना रूप है। दूसरा यह है कि कविता की महाराष्ट्री मे सस्कृत 'ण' का सदा 'न' होता है, जैन दोनो काम मे लाते हैं, पदादि मे 'ण' कभी नही लाते। साहित्य की प्राकृत को जब आवश्यकता पडी तव उसने देशी शब्द लिए और सस्कृत भी जव चाहती है तव उन्हें सुधार सँवार कर ले लिया करती है। साहित्य की प्राकृत मे यह वात भी है कि प्रत्येक सस्कृत शब्द को वह अपने ही नियमो से तत्सम या तद्भव रूप वनाकर काम नही ले सकती, जो शब्द आ गए हैं, उन्ही का विवेचन उसके नियम करते है, उन्ही नियमो मे नए शब्द वनाए नही जा सकते। हेमचद्र कह गए है (८।२।१७४) 'इसी लिये कृष्ट, घृष्ट, वाक्य, विद्वस्, वाचस्पति, विष्टर-श्रवस्, प्रचेतस्, प्रोक्त, प्रोत, आदि शब्दो का, या जिनके अंत मे क्विप् आदि प्रत्यय हो उन अग्निचित् सोमसुत् सुग्न, सुम्ल आदि शब्दो का, जिन्हें पहले कवियो ने प्रयोग नही किया, प्रयोग नही करना चाहिए, क्योकि वैसा करने से प्रतीति मे विषमता आती है, दूसरे शब्दो से ही उनका अर्थ कहा जांय जैसे कृष्ट के लिए कुशल, वाचस्पति के लिए गुरु, विष्टरश्रवा के लिये हरि इत्यादि।'

आगे इस लेख के उदाहरणाश के दो भाग है—पहले मे सोमप्रभ की उद्धृत कविता है, दूसरे मे उसकी तथा सिद्धपाल की रचना के नमूने। विस्तारभय से अर्थ देने की यह रीति रखी है कि प्रत्येक पद का मिलता हुआ हिंदी अर्थ क्रम से रख दिया है फिर स्वतन्त्र अनुवाद नही किया, उसी को मिलाकर पढने और पढती वार मन मे अन्वय कर लेने से अर्थ प्रतीत हो जायगा।

पहला भाग

प्राचीन

(१)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जनकरपल्लविहिं दंसिज्जंतु भमिज्ज ॥

मान, प्रनष्ट हो, यदि, न, शरीर, वह, कुदेश, तजिए, मत दुर्जन-कर-पल्लवों से, दिखाए जाते हुए, घूमिए। मान प्रनष्ट हो (तो शरीर छोड़ना चाहिए), यदि शरीर न छोड़ा जाय) तो देश को (तो अवश्य) तज दीजिए। पूर्वार्द्ध का यह अर्थ और भी अच्छा है। जइ न तणु—देह न जावे तो भी मान जावे ता। देसडा—देखो प्रबंध—(१) मे 'सदेसडो' की टिप्पणी। चइज्ज, भमिज्ज-तजीजै, भ्रमीजै। दंस-दिखाने के अर्थ का प्राकृत धातु [दृश से]। पजाबी दस्स, देखो (४६)। यह दोहा हेमचंद्र मे भी है।

(२)

एक मनुष्य यज्ञ के लिये बकरे को ले जा रहा था और बकरा मिमियाता था। एक साधु ने उसे यह दोहा कहा तो बकरा चुप हुआ। साधु ने समझाया कि यह इसी पुरुष का बाप रुद्रशर्मा है, इसने यह तालाब खुदवाया, पाल पर पेड लगाए प्रतिवर्ष यहाँ बकरे मारने का यज्ञ चलाया। वही रुद्रशर्मा पाँच बार बकरे की योनि मे जन्म लेकर अपने पुत्र से मारा जा चुका है। यह छठा भव है। बकरा अपनी भाषा मे यह कहता है कि बेटा, मत मार, मैं तेरा बाप हूँ. यदि विश्वास न हो तो यह सहिंदानी बताता हूँ कि घर के अंदर तुझसे छिपाकर निधान गाड रखा है, दिखा दूँ। मुनि के कहने पर बकरे ने घर मे निधान दिखा दिया और फिर बकरे और उसके मनुष्य पुत्र को स्वर्ग मिल गया।

खड्ड खडाविय सइ छगल सइ आरोविय रक्ख ।
पइ जि पवत्तिय जन्न सइ किं बुब्बुयहि मुरक्ख ॥

खड्ड (=ताल), खनाया स्वय, हे छागल! स्वय आरोपित किए रूख, पै (या तैंने), जो, प्रवर्तित किया, यज्ञ, स्वयं, क्यो बुबुआता है? मूर्ख! खणाविय--खणाव्यु, आरोविय--आरोप्यो, पइ-तै के लिये देखो हेमचद्र ८।४।३७० । बुब्बुयहि-अनुकरण, बलबलाना ।

(३)

एक नगर मे अशुभ की शाति पशुवध से को जानेवाली थी, तब देवता ने कहा---

वसइ कमलि कलहसि जिँम्वँ जीवदया जसु चित्ति।
तसु पय पक्खालण जलिण होसइ असिव निवित्ति॥

वसती है, कमल मे, कलहसी, जिमि, जीवदया, जिसके चित्त मे, उसके, पद (पैर) पखालने (धोने) के जल से, होगी, अशिव (की) निवृत्ति। होसइ--होसै देखो (२३)।

(४)

एक विवाह के वधावे (वर्धापन--वद्धावण--वधाई) का वर्णन--

आभरणकिरण दिप्पत देह अहरीकिय सुरवहू रूपरेह ।
घण कुकुम कद्दम घर दुवारि खुप्पत चलण नच्चति नारि॥

स्पष्ट है। दिप्पत-दीप्यमान, अहरीकिय-अधरीकृत, नीची दिखाई, रेह--रेखा, घण कुकुम कद्दम--विशेषण के आगे विभक्ति नही है, घरदुवारि--घर द्वार मे या पर, खुप्पत चलण--पैर फिसलते हैं (कर्दम मे) जिनके ऐसी नारियाँ।

(५)

तीयह तिन्नि पियाराइ कलि कज्जल सिंदूरु ।
अन्नइ तिन्नि पियाराइ दुद्धु जम्वाइ उ तूरु ॥

स्त्रियो के (या को). तीन, प्यारे (हैं), झगडा, कज्जल (और) सिंदूर, [अन्य (भी) तीन प्यारे है, दूध, जँवाई और बाजा। तूर-तूर्य॥

(६)

नरवइ आण जु लंघिहइ वसि करिहइ जु करिंदु।
हरिहइ कुमरि जु कणगवइ होसइ इह सु नरिंदु॥

नरपति (की) आन जो उलांघेगा वश में करेगा जो करींद्र को, हरेगा जो कुमारी कनकवती (को) होगा यहाँ वह नरेंद्र। अभयसिंह कुमार ने तीनो बातें पूरी की हैं। यहाँ 'आण' को संस्कृत 'आज्ञा' से मिलाते है किंतु इसका अर्थ शपथ या दुहाई है जैसे राजपूताने में 'दरबार की आन' (मोहि राम रावरि आन [=रावली आन] दसरथ सपथ —(तुलसी रामायण मे निषाद का वाक्य)। आगे कथा मे स्पष्ट होता है कि 'आन' का अर्थ यहाँ कोई आज्ञा नहीं है। आधी रात को अभयसिंह चला जा रहा था कि नगर रक्षक ने टोका और न ठहरने पर राजा की 'आन' दी। 'अपने आप को राजा की आन दे' यों कहकर अभयसिंह चल दिया[1]। इसी कथा मे आगे चलकर एक अद्भुत महाविरा है। राजकुमारी कनकवती पर हाथी ने मोहरा कर दिया है। उसका परिजन पुकारता है—'है कोई 'चउद्दसीजाओ' जो हमारी स्वामिनी को इस कृतात के से हाथो से बचावे ?' यहाँ चउद्दसीजाओ = चौदस का जाया — चतुर्दशी के दिन जनमा हुआ, बडे भाग्यवान् या पराक्रमी के अर्थ मे आया है, जैसे जिसकी छाती पर बाल हो यह यह काम करे, जिसने माँ का दूध पिया है, कोई चाँदनी (शुक्लपक्ष की) चौदस का जाया हो'''इत्यादि।

(७)

वसंत वर्णन—

अह कोइल-कुल-रव-मुहुल भुवणि वसंत पयट्टु।
भट्टु व मयण-महा-निवह पयडिअ-विजय-मरट्टु॥
अथ कोयल-कुल-रव-मुखर वन (मे) वसंत पैठा।
भट इव मदन महा नृप का प्रकटित-विजय-पुरुषार्थ॥
मरट्ठ = वीरता, मराठापन ?

(८)

सूर पलोइवि कंत-करु उत्तर-दिसि-आसत्तु।
नीसासु व दाहिण-दिसय मलय-समीर पवत्तु॥

---

[1] नयरारक्खेण दिन्ना रन्नो आणा। देसु नियपिउणो रन्नो आणंति भणतो अभयसीहो वच्चइ। (पृष्ठ ३८)

सूर्य (को, के ?) देखकर कत (के) कर उत्तर-दिशा-आसक्त ।
नि.श्वास इव दक्षिण दिशा के मलय समीर प्रवृत्त (हुए) ।

कुमारसंभव के 'कुवेरगुप्ता दिशमुष्णरश्मौ गन्तु प्रवृत्ते समय विलध्य। दिग्दक्षिणा गन्धवह मुखेन व्यलीकनि.श्वासमिवोत्ससर्ज' का भाव है। कर—मे श्लेप है । पलोइवि—प्रलोक्य, देखकर। विभक्तियो की वेकदरी होने से यह वीच मे आ गया है और सूर और कत दूर पड गए हैं।

(६)

काणण-सिरि सोहइ अरुण-नव-पल्लव परिणद्ध ।
न रत्तसुय—पावरिय महु-पिययम सावद्ध ॥

कानन (की) श्री सोहै अरुण नव पल्लवो से ढकी। मानो रक्ताशुक (लाल कपड़े) से लिपटी मधु (चैत्र, वसत) (रूपी) प्रियतम से सवद्ध ।

'विवाह मे 'सूहा सालू' पहनते ही है। पावरिय—प्रावृत्त ढकी हुई।

(१०)

सहयारिहि मजरि सहहि भ्रमर-समूह-सणाह ।
जालाउ व मयणानलह पसरिय धूम पवाह ॥

सहकार (आम) की मजरी सोहती हैं भ्रमर-समूह (से) सनाथ ।
ज्वालाएँ इव मदनानल की प्रसरित-धूम-प्रवाह ।

यहाँ सहहि का अर्थ सहती है नही हो सकता, सोहहिं का अर्थ वैठता है। सो के ओ की एक माला मानने से काम चलाया है। देखो (२२), (४१) ।

(११)

दमयती के वस्त्र पर नल उसे छोडते समय अपने रुधिर से लिख गया था—

वड-रुक्खह दक्खिण-दिसिहि जाइ विदब्भहि मग्गु ।
वाम-दिसिहि पुण कोसलिहि जाह रुच्चइ तहि लग्गु ॥

वड (के)रुख की, दक्षिण दिशा मे, जाय, विदर्भ को, मार्ग ।

वाम दिशा मे पुन, कोसल को, जहाँ, रुचै, तहाँ, लग। (जिधर चाहे उधर जा) । जहि तहि = जिसमे तिसमे ।

(१२)

कुसल नामक एक विप्र (महाभारत के नलोपाख्यान का पर्णाद) खुद्दग को (क्षुद्रक, महाभारत का बाहुक—नल, विकृत रूप में) देखकर यह दोहा (दुहय) गाता है—

निट्ठुर निक्किवु काउरिसु एक्कुजि नलु न हु भंति।
मुक्कि महासइ जेण विणि निसि सुत्ती दमयंति॥

निष्ठुर, निष्कृप (कृपारहित)। कापुरुष, एक, जो, नल (है) नहीं हो, भ्राति (इस बात में) छोडी, महामती, जिसने, वन में, निशा में, सूती दमयती।

मुक्कि—मुक्ता, महासइ—देखो ना० प्र० पत्रिका भाग १ पृष्ठ १०८।

(१३)

परदारगमन के विषय में उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की कथा लिखी है, उसी में प्रसग से उदयन वत्सराज, वासवदत्ता, यौगंधरायण आदि की कथाएँ भी आ गई है जो बौद्ध जातकों में, बृहत्कथा (कथासरित्सागर) और भास के नाटक में है। इस कथा में भास के नाटक प्रतिज्ञायौगंधरायण की कथा से कुछ भेद है किंतु दो श्लोक उसी नाटक के उद्धृत किए हैं। अस्तु। राजगृह के राजा श्रेणिक के पुत्र अभय को प्रद्योत ने छल से बांधकर अपने यहाँ रख छोडा था। उसने कई मार्के के काम किए, प्रद्योत ने उससे वर माँगने के लिये कहा तो उसने यह ऊटपटाग वर मांगा जिसका अभिप्राय यह था कि मुझे अपने यहाँ से विदा कर दो—

नलगिरि हत्थिहिंमि ठिनइ सिवदेविहि उच्छगि।
अग्गिभीरु रह दारुइहि अग्गि देहि मह अगि॥

प्रद्योत के यहाँ नलागिरि प्रसिद्ध हाथी था, शिवा देवी थी और अग्निभीरु रथ था जो आग में नहीं जलता था। अभय कहता है कि नलगिरि हाथी में (पर) बैठे हुए, शिवदेवी की गोद में, अग्निभीरु रथ की दारुओं से, आग, दे, मेरे, अग में। उच्छग—तुलसीदासजी का उछग, स० उत्सग। हत्थिहिंमि-दोहरी विभक्ति।

(१४)

जाते समय अभय बदला लेने की यह प्रतिज्ञा कर गया और पीछे आकर परदार-गमन-रसिक प्रद्योत को दो स्त्रियों से बिलमा कर बांध ले गया।

करिवि पईवु सहस्सकरु नगरी मज्झिणए सामि ।
जइ न रडतु तइं हरउं [तइ] अग्गिहि पविसामि ॥

करके, प्रदीप, सहस्रकर (=सूर्य) को, अर्थात् दिनदहाडे, नगरी के मध्य से, हे स्वामी यदि न चिल्लाते हुए को, तुझे, हरूँ, तो, अग्नि मे, प्रवेश करूँ। रडंतु–पंजाबी रडचाँदा, हिं० रटता।

(१५)

वेस विसिट्ठह वारियइ जइ वि मणोहर–गत्त ।
गगाजलपक्खालिय वि सुणिहि कि होइ पवित्त ॥

वेश-विशिष्टो को, वारिये (=उनसे बचिए), यदि, भी, मनोहर-गात्र (वे हो), गगाजल-प्रक्षालित, भी, कुत्तियाँ, क्या, होयँ, पवित्र ? वेस विसिट्ठह–वेश–विशिष्टा, अच्छे अच्छे वेशवाली, वेश्या, वेश का अर्थ 'वेश्याओ का वाडा' भी होता है उस अर्थ मे 'वेश्याओ के वाडे मे घुसी हुई,' देखो (१६)। सुणि–स० शुनी।

(१६)

नयणिहि रोयइ मणि हसइ जणु जाणइ सउ तत्तु ।
वेस विसिट्ठह त करइ ज कठ्ठह करवत्तु ॥

नयनो से, रोवै, मन मे, हँसै, जानो, जानै, सब (या सौ), तत्व, वेशविशिष्टा, वह (वैसे), करै, जो (जैसे) काठ का (=को), करौती। इन दोनो दोहो मे 'वेस विसिट्ठह' अलग अलग पद मानें तो पहले मे अर्थ होगा 'वेश्या विशिष्टो (अच्छे लोगो) से वारित की जाती हैं', और दूसरे मे 'वेश्या विशिष्टो का (=को) वह करै' इत्यादि। करवत्तु=स० करपत्र, हिं० करौती।

(१७)

पिय हउं थक्किअ सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलत ।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत ॥

पिया !, मैं, रही, सकल, दिन, तेरी, विरहाग्नि मे, उबलती, थोड़े, जल मे, ज्यो, मछली, तडफडाहट, करती (हुई)। थक्किय—थकना=रहना (बगला थाक्), तल्लोविल्लि–तले ऊपरी, छटपटाना।

(१८)

मइं जाणियउ पिय विरहियहं क वि घर होइ वियालि।
नवरि मयंकु वि तह तवइ जह दिणयरु खयकालि॥

मैं, जान्यो, पिय-विरहित का, (=को), कोई, भी, सहारा, होवे, शाम मे, नही पर (=यह पता नही कि यह तो दूर रहा उलटा) मयंक, भी, वैसे, तपै, जैसे, दिनकर (=सूर्य), लयकाल मे। घर-धरनेवाली बात, आधार, सहारा। वियालि=विकाल मे, वि=द्वि, दूसरी बेला अर्थात् शाम। मयंक=मृगांक, चंद्र। खयकाल-प्रलय। नवरि-इस देशी का ठीक शब्द प्राकृत की संस्कृत छाया बनानेवाले नहीं ला सकते। ऊपर अर्थ दिया है। यह दोहा हेमचंद्र के व्याकरण मे भी है।

(१९)

अज्जु विहाणउं अज्जु दिणु अज्जु सुवाउ पवत्तु।
अज्जु गलत्थिउ सयलु दुहु जं तुहु मह घरि पत्तु॥

आज, विहान (हुआ), आज, दिन, आज, सुवायु, प्रवृत्त (हुआ), आज, गलहत्था दिया (निकाल दिया), सकल दुःख, जो, तू मेरे, घर मे प्राप्त (हुआ)। विहाणउ-नामधातु विहान्यो, हिंदी विहान, सं० विभात, विभान। गलत्थिउ-सं० गलहस्तित, गले मे हाथ देकर निकाल दिया (अर्द्धचंद्र दिया, गलहस्तेन माधव)।

(२०)

पडिवज्जिवि दय देव गुरु देवि सुपत्तिहिं दाणु।
विरइवि दीणजणुद्धरणु 'करि सफलउं अप्पाणु'॥

चौथे चरण की समस्यापूर्ति। दया, देव और गुरु को प्राप्त होकर (स्वीकार करके), देकर, सुपात्र को दान, रच करके, दीनजनोद्धरण, कर, सफल, अपने को। पडिवज्जिवि-प्रतिपद्य, अंगीकार करके। विरइवि-विरचय्य, विरच कर। अप्पाणु-आत्मान, तुलसीदास जी का 'अपान'। पडिवज्जिवि देवि, विरइवि पूर्वकालिक क्रियाएँ।

(२१)

पुत्तु जु रजइ जणयमणु धी धारइ वत्तु
भिच्चु पसन्नु करइ पहु 'इहु भल्लिम पज्जत्तु'।

समस्यापूर्ति---पूत, जो, रजावे, जनक (का) मन, स्त्री, आराधै, कंत (को), भृत्य, प्रसन्न, करै, प्रभु (को), ये (या यहाँ) भलेपन को, पाते हैं। रजइ, रजयति, रजै, प्रसन्न करे। आराहइ--आराधना करे। इहु--ये अथवा यहाँ। भल्लिम--भलाई (सस्कृत का इमनिच्)। पज्जंतु--पाईजते हैं, पाते है, या इह भल्लिमपज्जंतु='यह भलाई की पर्यंत (=सीमा) हैं' यह भी अर्थ हो सकता है।

(२२)

मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपयपह देह। (समस्या)
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह॥ (पूर्ति)

मरकत वर्ण के (सांवरे), पिया के उर पर, प्रिया, चपक (की सी) प्रभा (वाले) देह की, कसौटी पर, दीनी, सोहती है, नाईं, सुवर्ण की, रेखा। हेमचंद्र के व्याकरण मे इससे वहुत मिलती हुई एक दूसरी कविता है उसका व्याख्यान आगे देखो। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि यह किस अवस्था का वर्णन है? सहइ, देखो ऊपर (१०) (४१)।

(२३)

चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु। (समस्या)
सासानलिण झलक्कियउ वाहसलिलससित्तु॥ (पूर्त्ति)

चूडा, चूर्ण (चूरा चूरा), हो जायगा, हे मुग्धे! कपोल पर, रखा हुआ, श्वास (को) अनल (अग्नि) से, झलकाया, वाष्प सलिल से खीचा (हुआ)। पहले तो जलते साँस चूडे को तपा देंगे फिर उस पर आँसू पड़ेंगे, क्या वह चुरा चूरा न हो जायगा? मुद्धि कवोल्नि---को समास भी मान सकते हैं, मुग्धा के कपोल पर। चूडउ---चूडो, सभवत दाँत का। चुन्नी होइसइ---अभूततद्भाव का इ पहचान लो। मुद्धि---देखो प्रवध०' 'मुधि' (दू० ८)। झलक्कियउ---झल=ज्वाला, देखो प्रवध० (दू० ६) 'झाली'। यह हेमचद्र मे भी है।

(२४)

हउ तुह तुट्ठउ निच्छइण मग्गि मणिच्छिउ, अज्जु।
तो गोवालिण वज्जरिउ पहु मह वियरहि रज्जु॥

मे, तेरे (या तुझपर), तूठा हूँ, निश्चय से, माँग, मन इच्छित, आज (देवता के ऐसा कहने पर) तव, गोपाल ने, कहा, प्रभु! मुझे, दे, राज।

वज्जरिउ–देसी, उचरा, कहा। वियरहि–वितर [+हि] न० समव है यह सोमप्रभ की ही रचना हो, किंतु अधिक सभव है कि यह कहानी का सग्रहश्लोक हो ।

(२५)

एक कोहल नामक कवाडी था जो काठ की कावड कधे पर लिए फिरता था। उसकी सिहला नामक स्त्री थी। उसने पति से कहा कि देवाधिदेव युगादिदेव की पूजा करो जिससे जन्मातर मे दारिद्रय दुःख न पावें। पति ने कहा तू धर्म-गहली (पागल) हुई है, पर-सेवक मैं क्या कर सकता हूँ ? तव स्त्री ने नदी जल और फूल से पूजा की। उसी दिन वह विसूचिका से मर गई और जन्मातर मे राजकन्या और राजपत्नी हुई। अपने नए पति के साथ किसी उसी दिन मदिर मे आई तो उसी पूर्व पति दरिद्र कवाडिये को वहाँ देखकर मूर्छित हो गई। उसी समय जातिस्मर होकर उसने यह दोहा पढा। कवाडी ने स्वीकार करके जन्मान्तर कथा की पुष्टि की—

अडविहि पत्ती नइहि जलु तो वि न वूहा हत्थ ।
अव्वो तह कव्वाडियह अज्ज विरज्जिय वत्थ ॥

अटवी (जगल) की, पत्ती, नदी का, जल, (सुलभ था) तो, भी, (तैंने) न हिलाए, हाय, हाय ! उसके, कवाडिये के, आज, विर्जित हैं, वस्त्र (तन पर कपडा भी नही, और मैं रानी हो गई)। वूहा—चालित किए। अव्वो–आश्चर्य और खेद मे।

(२६)

जे परदार–परम्मुहा ते वुच्चहि नरसीह ।
जे परिरभहि पररमणि ताह फुसिज्जइ लीह ॥

जो, परदारा (से) पराङमुख (है,), वे, कहे जाते हैं, नरसिंह, जो, आलिगन करते है, पररमणी (को), उनकी, पूंछ जाती है, रेखा (सज्जनो की पक्ति से)। वुच्चहि–स० उच्यते। फुसिज्जइ–पोछ दी जाती है, मिटाई जाती है, सस्कृत मे पोछने के लिए उत् + पुस् धातु काश्मीरी कवियो ने प्रयोग किया है। ली रेह, लीक।

(२७)

एक वहू पशुपक्षियो की भाषा जानती थी। आधी रात को शृगाल को यह कहता सुनकर कि नदी का मुर्दा मुझे दे दे और उसके गहने ले ले, नदी पर वैसा करने गई। लौटती बार श्वसुर ने देख लिया। जाना कि यह अ-सती है। पीहर पहुँचाने ले चला। मार्ग मे करीर के पेड के पास से कौआ कहने लगा कि इस पेड के नीचे दस लाख की निधि है, निकाल ले और मुझे दही सत्तू खिला। अपनी विद्या से दुख पाई हुई कहती है—

एक्के दुन्नय जे कया तेहि नीहरिय घरस्स।
बीजा दुन्नय जइ करउं तो न मिलउ पियरस्स॥

एक, दुर्नय, जो, किया, उससे निसरी (निकली) घर, से, दूसरा, दुर्नय यदि, करूँ, तो, न, मिलू (कभी भी), पियारे से। घरस्स, पियरस्स—सस्कृत षष्टी 'स्स' से हिंदी पचमी और तृतीया दोनो का काम सरा है। पियरस्स, प्रिय से तो हिंदी पिय या पिया बना है—और प्रियकर, पियर, से पियारा प्यारा।

(२८)

रुक्मिणी हरण के समय कण्ह (कान्ह, कृष्ण) रुक्मिणी से कहता है—

अम्हे थोडा रिउ बहुय इउ कायर चितति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करति॥

हेमचद्र मे भी है। हम, थोडे (हैं), रिपु, बहुत (है), यो, कायर चीतते हैं, भोली!, देख, गगन तल मे, कै (कितने), उदोत (प्रकाश) करते हैं? बहुत से तारे या एक चद्र? अम्हे—राजस्थानी म्हे। मुद्धि—मुग्धे? (देखो २३)। निहालहि—आज्ञा, उपनिषदो का निभालयति। उज्जोउ—उद्योत।

सो जि वियक्खणु अक्खियइ छज्जइ सोज्जि छइल्लु।
उप्पह पट्ठिओ पहि ठवइ चित्तु जु नेह गहिल्लु॥

वह, जो, विचक्षण, कहा जाता है, छाजता है (शोभित होता है) वही जो, छैल, उत्पथ प्रस्थित (कुमार्ग पर चले हुए) को, पथ पर टिकाता

है, चित्त को, जो नेह-गहले (प्रेम से मतवाले) को। आखिज्जइ—आख्या जाय, आखना = आ + ख्या, पजाबी आखना = कहना। छज्जइ—छाजे। सोज्जि-सोउ + जि, वही, जी (पादपूरण)। छइल्लु—संस्कृत छेक = विदग्ध, चतुर, प्राकृत कविता मे छइल्ल का अर्थ चतुर है, पजाबी छैल = अच्छा। इस छइल तथा वनावट के प्रेमी छैला (छविल, छवीला) का भेद तुलसीदास ने दिखाया है, 'छरे छवीले छैल सव'। ठवइ—थापै, स्थापयति (स०)। गहिल्लु (स०) ग्रहिल, आग्रही, इसमे गहला या घेला = हठी या पागल।

(३०)

रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि सममाणु।
सउणिहि मुच्चहि फलरहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु॥

रिद्धिविहीन (का), मनुष्य (का), न, करता है, कोई भी, समान, पक्षियो से छोड़ा जाता है, फल रहित, तरुवर, यहाँ प्रमाण (यह है)। रिद्धि = ऋद्धि (स०)। विहूण—विहीन, डिंगल कविता मे आता है, निष्ठा के रूप मे ई और उ की वदल के लिये मिलाओ जीर्ण = जूर्ण = जूना। सउणि = शकुनि (स०)। इत्थु—प्राकृत एत्थ, स० अत्र, पजाबी इत्थु।

(३१)

जइवि हु सूरु सुरूवु वियक्खणु।
तहवि न सेवइ लच्छि पइक्खणु॥
पुरिस - गुणागुण - मुणण - परम्मुह।
महिलह बुद्धि पयपहि ज वुह॥

यद्यपि, हो, शूर, सुरूप, विचक्षण, तथापि, नही सेती है, लक्ष्मी, (उस मनुष्य को) प्रति। क्षण (क्योकि) पुरुषो (के) गुण अगुण (के) विचार (से) पराङमुख, महिलाओं की बुद्धि (होती है), कहते है, जो वुध॥ मुणण—विचारना। पयपहि—स० प्र + जल्प। ज—जिमि, वा ज्यो (यथा)।

(३२)

जेण कुलक्कमु लघियइ अवजसु पसरइ लोइ।
त गरु-रिद्धि-निवधण वि न कुणइ पंडिओ कोइ॥

जिससे, कुलक्रम, उलाँघा जाता है (और) अपजस, पसरता, है, लोक में उस (को) बहुत संपत्ति उपजानेवाले (काम) को भी, न, करता है, पंडित कोई। गुरु-रिद्धि-निबंधणु = गुरु + ऋद्धि + निबंधन (ला बाँधनेवाला)।

(३३)

जं मणु मूढह माणुसह वंछइ दुल्लहु वत्थु।
तं ससि-मंडल-गहण किंहि गयणि पसारइ हत्थु॥

जो, मन, मूढ़ (का), मनुष्य का, वांछा करता है, दुर्लभ वस्तु को तो शशिमंडल-ग्रहण (के लिये) क्या, गगन में, पसारता है, हाथ।

(३४)

रावण जायउ जहिं दिवहिं दह मुह एक्क सरीरु।
चिंताविय तइयहिं जणणि कवण पियावउ खीरु॥

शंखपुर के राजा पुरंदर के यहाँ एक सरस्वती कुटुंब आया, राजा ने इस दोहे का चौथा चरण 'पुत्र माता' से समस्या की तरह पूछा, उसने पूर्ति की। प्रबंधचिंतामणि में सरस्वती कुटुंब भोज के यहाँ आया है वहाँ भी यह समस्या गृहपत्नी ने यों ही पूर्ण की है। इसका अर्थ यही है कि दोहा पुराना है, कथालेखक इसकी रचना किसी भी राजा की सभा पर चिपका देते हैं। प्रबंधचिंतामणिवाले लेख में इसका और अगले दोहे का अर्थ और पाठांतर देखो (पत्रिका भाग २ पृ० ४५, सं० १२)।

रावण जाया (जन्मा), जिस (में), दिन में, दस-मुख, एक शरीर। चिंतित किया, तभी जननी (को), किस (को) पियाऊँ क्षीर (= दूध)? चिंताविय—चिंतापिता (!) सं० 'प' 'व' के लिये देखो ना० प्र० पत्रिका भाग १, पृ० ५०७।

(३५)

पुत्र की घरवाली ने यह समस्यापूर्ति की—

इउ अच्चब्भुउ दिट्ठु मइँ 'कंठि व लुल्लइ काउ'।
कीइवि विरह - करालियहे उड्डावियउ वराउ॥

यह दोहा हेमचंद्र में भी है। यह, अत्यद्भुत, दीठा (देखा) मैं (ने), कंठ में, लगा जाय, किसके, किसी भी, विरहकरालिता ने, उड़ा दिया, वराक (बेचारा) (पति)। इउ = यों।

(३६)

सीहु दमेवि जु वाहिहइ इक्कुवि जिणिहइ सत्तु।
कुमरि पियकरि देवि तसु अप्पहु रज्जु समत्तु॥

गजपुर के राजा खेमकर के सुतारा देवी ने एक कन्या उत्पन्न हुई, राजा रानी के मरने पर मन्त्रियो ने उसे पियकर नाम देकर पुरुष [illegible] गद्दी पर बैठाया। फिर कुलदेवी अच्युता की पूजा करके पूछा कि उसका पति किसे करें। देवी ने उत्तर दिया--सिंह को, दमन करके, जो वाहेगा (सवारी करेगा), एक (अकेला), भी, जीतेगा, शत्रुओं को, कुमारी, प्रियकरी, देकर, उसे, अर्पण करो, राज, समस्त। ऐसा ही एक मिल गया और कहानी कहानियो की तरह चली।

दूसरा भाग

सोमप्रभ और सिद्धपाल की रचित कविता

(१) कुमारपालप्रतिबोध, गायक्वाड सरकृत सिरीज पृ० ७७, एक छंद।

(३७)

कुलु कलंकित मलिउ माहप्पु।
मलिणीकय सयणमुह
दिन्नु हत्थु नियगुण कडप्पह
जगु ज्झपियो अवजसिण
वसण विहिय सन्निहिय अप्पह।
दूरह वारिउ भद्दु तिणि ढक्किउ सुगइदुवारु।
उभयभवुब्भडदुक्खकरु कामिउ जिण परदारु।

यह सप्तपद छंद उस समय की रचना में बहुत मिलता है। अंत के दो चरण छप्पय के हैं। परदारगमन की निंदा में कवि कहता है—कुल, कलंकित (किया), मल दिया, माहात्म्य, मलिन किया, सज्जनों का मुँह, दीना, हाथ, निज गुण समूह को, (=धक्का देकर निकाल दिया), जग, झप (गल+), हत्था (ढक दिया), अपजस से, व्यसन, विहित (किए) अन्निहित, अपने, दूर से, निवारण किया, भद्र, उसने ढँक दिया, सुगति का द्वार, दोनों भव (यह लोक और परलोक) में उद्भट दुखों की करनेवाली कामित की (=चाही) जिसने, परदारा। सयण—सजन, मित्र, हिं० साजन। दिन्नु हत्थु—दिया, गलहस्त दिया, अर्धचंद्र दिया, निकाल बाहर किया देखो ऊपर (१६)। कडप्प—? समूह, झप=घूमना, ढकना या जीतना। इसी से मिलता हुआ एक श्लोक सोमप्रभ की सूक्तिमुक्तावली (सिंदूरप्रकरस्तोत्र) में है—

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चकं,
चारित्र्यस्य जलाजलिर्गुणगणारामस्य दावानल।

सकेत नकलापदा शिवपुरद्वारे कपाटो दृढ
शील येन निज विदुप्यमखिल त्रैलोक्यचिन्तामणि [1] ॥

(२) पृष्ठ ३११, १४ छद, बारह भावनाएँ, नमूने—(३८–४०) ।

पिइ[1] माय भाय सुकलत्तु[2] पुत्तु
पहु[3] परियण[4] मित्तु सणेहजुत्तु[5]
पहवतु[6] न रक्खइ[7] कोवि मरणु
विणु धम्महु[8] अन्नु[9] न अत्थि[10] सरणु ॥
राया[11] विरकु सयणो[12] वि सत्तु[13]
जणुओ[14] वि तणउ[15] जणणि वि कलत्तु ।
इह होइ नड[16] व्व कुकम्मवतु
ससाररगि[17] बहुरूवु[18] जतु ॥
एक्कल्लउ[19] पावइ जीव जम्मु
एक्कल्लउ मरइ विढत[20] कम्मु ।
एक्कल्लउ परभवि[21] सहइ दुक्खु ।
एक्कल्लउ धम्मिण[22] लहइ मुक्खु[23] ॥[2]

(३) पृ० ३५०–५१, वसतवर्णन, छंद ५—नमूना–

(४१)

जहिं रत्त सहहिं कुसुमिय पलास नं फुट्टए पहियगण हिययमास ।
सहयारिहि रेहहि मंजरीओ नं मयण जलण जालावलीओ ॥

जहाँ, रक्त, सोहते हैं, कुसुमित, पलाश, मानो, फूटे हैं, पथिक गण (के) हृदय के मांस, सहकारो (आमो) मे, विराजती हैं, मंजरियाँ मानो,

---

१. काव्यमाला गुच्छक ७ पृ० ३७ ।

२. स्पष्ट है। कठिन शब्दो पर टिप्पणी दी है—

१–पिता । २–सुकलत्र (स्त्री) । ३–प्रभु । ४–परिजन । ५–स्नेहयुक्त । ६–समर्थ होता हुआ (प्रभवन्) । ७–रक्षा करता है, बचाता है । ८–धर्म के । ९–अन्य । १०–है । ११–राजा । १२–स्वजन । १३–शत्रु । १४–जनक (पिता) । १५–तनय (पुत्र) । १६–नट इव । १७–रंग पर, नाट्य भूमि पर १८–बहुरूप १९–अकेला २०–अर्जित २१–परलोक में २२–धर्म से २३–मोक्ष ।

मदन (रूपी) ज्वलन (अग्नि) की ज्वालावलियाँ ॥ सहँहि–देखो (१०) (२२)।

(४) पृ० १७८, ग्रीष्मवर्णन, चार छद, नमूना—

(४२)

जहि दुठ्ठ नरिंदु व सयलु भुवणु परिपीडइ तिव्वकरेंहि तवणु।
जहिं दूहव महिलय जण समग्ग सतावइ सूय सरीर लग्गु॥

जहाँ, दुष्ट, नरेंद्र, इव, सकल, भुवन को, परिपीडित करता है तीव्र करो से, तपन (=सूर्य्य), जहाँ, दुर्भगा (वियोगिनी) महिला, जन, समग्र (को), सतावे, सूर्य (?) शरीर मे लगा। कर–किरण, राज देय।

(५) पृष्ठ ४२३ से ४३७, जीवमनकरण सलाप, छद १–२, ४–२७, २६–३०, ४७, ५१–५२, ५४–५६, ६१, ६४–६५, ६७–१०४ (वाकी प्राकृत हैं)। कवि सिद्धपाल ने जीव, मन और इद्रियो की बात-चीत राजा कुमारपाल को सुनाई है। देह नामक प्टट्टण (नगर) मे आत्मा राजा, वुद्धि महादेवी, मन महामत्री और फरिसण (स्पर्श), रसण (रस), घाण (घ्राण) लोयण (लोचन) सवण (श्रवण) ये पाँच प्रधान–यो कथा चलती है। नमूने—

(४३)

ज तिलुत्तम-रूव-वक्खित्तु
खण वभु-चउमुहु हुउ,
धरइ गोरि अद्धगि सकरु
कंदप्पपरवसु चलण
ज पियाइ पणमइ पुरदरु
ज केसवु नच्चावियउ गोठगणि गोवीहिं।
इदियवग्गह विप्फुरिओ त वन्नियह कईहिं॥ ६१॥

जो, तिलोत्तमारूप (से) व्याक्षिप्त (व्याकुल), क्षण मे, ब्रह्मा, चतुर्मुख हुआ, धरै, गोरी को, अर्द्धांग मे, शकर; कदर्प के परवश, चरण, जो, प्रिया के, प्रणाम करता है, पुरदर; जो, केशव, नचाया गया, गोष्ठ आँगन मे, गोपियो से, इद्रियवर्ग का, विस्फुरित, वह वर्णन किया जाता है, कवियो से।

(४४)

वालत्तणु असुइ-विलित्ति देहु
दुहकर दसणुग्गम कन्नवेहु ।
चिंततह सव्वविवेय रहिउ
मह हियउ होइ उक्कपसहिउ ॥ ८५ ॥

वालकपन, अशुचि (पदार्थों से) विलिप्त देह, दुःखकारक, दसनों (दाँतों) का उद्गम (निकलना), कर्णवेध, (इनको) सोचते हुए का, सवविवेक-रहित, मेरा, हृदय, होता है उत्कंपसहित ।

(४५)

ईसा-विसाय-भय - मोह-माय ।
मय-कोह-लोह-वम्मह-पमाय ।
मह सग्गगयस्स वि पिट्टि लग्ग ।
ववहरय जेव रिणिग्रह समग्ग ॥ ९७ ॥

ईर्षा, विषाद, भय, मोह, माया, मद, क्रोध, लोभ, मन्मथ, प्रमाद (ये सब) मेरे स्वर्गगत के, भी, पीठ पर लगे, वोहरे (लेनदार) जैसे ऋणी (कर्जदार) के, सब।

(६) पृ० ४४३-४६१ स्थूलिभद्र कथ छद १-४, १-१४, २३-२५, ३१-३२, ३४-३८, ४०-४५, ४६-६१, ६४-६६। ६८-८२, ८४, ९४, ९७-९८, १००, १०१-१०५ (वाकी प्राकृत है) पाडलिपुत्त के राजा नवम नद के मत्री सगडाल (शकटार) ने किस प्रकार अपनी श्रुतधर कन्याओं की सहायता से वररुचि का नई कविताएँ सुनाकर नद से धन पाना वद किया, वररुचि गगा से दीनार पाने का चेटक, नंद का सगडाल पर क्रोध, सगडाल के पुत्र सिरिय का पिता को मारना, सिरिय के वडे भाई स्थूलिभद्र का कोशा नामक वेश्या से प्रेम, कोशा के उपदेश से श्रमण का वहाँ भी सयम से रहना, आदि का वर्णन वहुत ही अच्छा है। नमूने—

(४३)

जसु वयण विणिज्जिउ न ससकु अप्पाण निमिहि दसइ ससकु ।
जसु नयणकति जियलज्जभरिण वणवासु पवन्नय नाइ हरिण ॥८॥

जिसके वदन से विनिर्जित, मानो, शशांक, अपने को, निशा मे, दिखाता

है, सशक, जिसकी नयन काति (से) जित, लज्जाभर से, वनवास (को) प्रपन्न हुए मानो हरिण । दसइ–देखो (१)

(४७)

नदु जपइ परकव्व
कह एस वररुइ सुकइ
कहइ मति मह धूय सत्त वि
एयाउ कव्वाइ
पहु पढइ वालाउ हुत वि
तत्थ तुम्ह नरनाह जइ मणि वट्टइ सदेहु
ताउ पढतिय कोउगेण ता तुम्हे निसुणेहु ॥ ३२ ॥

नद, कहता है, 'पढै, परकाव्य, कैसे, यह वररुचि, सुकवि ?' कहै, मत्री 'मेरी, वेटियां, सातो, ही इन्ही (को), काव्यो को, प्रभु ! पढै, वाला होती हुई भी; वहाँ तुम्हें, नरनाथ, यदि, मन मे, वर्तता (है) सदेह, वे, पढती हुई, कौतुक से, उन्हें, तुम सुनो । कन्याओ मे पहली एक बार सुनकर दूसरी दो वार यो सातवी सात वार सुनकर श्लोक कठस्थ कर लेती थी । वररुचि ने नया श्लोक पढा कि पहली ने पढ दिया । यो दो वार सुनकर दूसरी ने इत्यादि । फिर नद ने कुपित होकर वररुचि को निकाल दिया ।

(४८)

खिविवि सझिहिं सलिल दीणार
गोसग्गि सुरसरि थुणइ
हणइ जतसचारु पाइण
उच्छिलिवि ते वि वररुइहिं
चडहि हत्थि तेण घाइण ।
लोउ पइपइ वररुइह गग पसन्निय देइ ।
मुणिवि नद वुत्तु इहु सयडालस्स कहेइ ॥ ३५ ॥

फेककर मध्या को, जल मे, दीनार, सवेरे, (वररुचि) गंगा को (=की) स्तुति करता है (और) हनता है (दवाता है) यंत्र संचार को पाँव से; उछलकर, वे, भी, वररुचि के, चढते है, हाथ मे, उससे, घात से, लोग, कहते हैं (कि) वररुचि को, गंगा प्रसन्न होकर, देती है; जानकर,

नद, वृत्तांत यह शकटाल को, कहता है। खिविव—सं० क्षिप्। खिविव, उच्छिलिवि, मुणिवि पूर्वकालिक। गोमग्ग—सं० गोमर्ग नगेरा। थुणइ—स्तु, (स्तुति करना) हु (होम करना) धातु 'नु' वाले अर्थात् दानवें गण के भी माने जाने चाहिए, प्राकृत थुणइ = स्तुति करना है, पुराणों तथा पद्धतियों में हुनेत् और हुनुयात् आता है (रामचरितमानस में, हने अनल महँ बार बहु), कृ का कृणोति वेद में तथा कुणइ प्राकृत में। पडपड—प्रजल्प (सं०), पसन्निय—प्रसन्निता (!) सं०। फिर शकटाल ने सिखाए आदमी भेजकर वररुचि को सायंकाल नदी में दीनार रखने पा लिये, स्वयं निकलवा लिए, सवेरे नंद के सामने वररुचि ने बहुत स्तुति की और यत्न चलाया, पर कुछ न मिला।

(४९)

कोसा ने सोचा कि श्रमण मेरे अनुराग में इतना पगा है उसे सुमार्ग में लगाऊँ। कहा कि मुझे 'धम्मलाभु' से क्या, 'दम्मु लाभु' (दाम-लाभ) चाहिए। उसने पूछा 'कितना ?' कोसा ने लाख माँगा।

तीय कुत्तइ सो सनिव्वेउ
मा खिज्जसि किंचि तुहुँ
झत्ति वच्च नेवाल मंडलु
तहँ देइ सावउ निवइ
लक्खु मुल्लु साहुम्म कवलु
सो तहि पत्तउ दिठ्ठु निवु दिन्नइ कवल नेण।
त गोविव दडय तलइ तो वाहुडिउ जवेण॥ ८६॥

उस (कोसा) से कहा गया, वह सनिर्वेद, मत, दुःखी हो, तू, झट, जा, नेपालमंडल, वहाँ, देवे, श्रावक, नृपति, लाख (के) मोल का, साधु को, कवल, वह, वहाँ प्राप्त हुआ, देखा, नृप, दीनो, कवल उसने उसे, गुप्त करके, दंड के तले में वह, लौटा वेग से। वृत्त—सं० उक्त उत्तर—सं० व्रज, वाहुडिउ—सं० व्याघुटित (पत्रिका भाग २ पृ० ३८)। मार्ग में चोर मिले जिन्हें लाख दीनारों के मिलने के सगुन हुए थे। श्रमण जान उन्होंने छोड़ दिया, किंतु फिर सगुन हुए तो श्रमण देखकर पूछा कि क्या तूने लाख दीनार छिपा रखे हैं? श्रमण ने कवल दिखाया जो उसने पोली लकड़ी में समेटकर छिपाया था। दुशाले की इतनी बारीकी से ही लाख का मोल होगा।

(५०)

ता मुक्कउ गउ दित्तु तिण कवलु कोसहि हत्थ ।
सी पेच्छतह तीइ तसु खित्तु खालि अपसत्थि ॥ ६१ ॥

तव, मुक्त किया (चोरो ने), (वह) गया; दिया, उसने, कवल, कोसा के, हाथ, वह, देखते, हुए, उसने उसके, फेंका, खाला मे, अप्रशस्त मे । तिण-पंजावी तिन्नी, पेच्छत-स० प्रेक्षत, डि० पेखन्त, खाला खेली, गंदे पानी की मोरी ।

(५१)

भमणु दुम्मणु भणंइ तो एउ
वहुमुल्लु कवलरयणु
कीस कोसि पइं खालि खित्तउ
देसतरि परिभमिवि
मइ महत दुक्खेख पत्तउ
कोस भणइ महापुरिस तुहु कवलु सोएसि ।
जं दुल्लहु संजम-खणु हारिस त न मुणेसि ॥ ६२ ॥

श्रमण दुर्मना (होकर), कहता है, तव, 'यह, वहुमूल्य कवल रत्न, कैसे, कोसा ! तैंने खाली मे, फेंका, देशातर मे, परिभ्रमण कर, मैं (ने) वहुत दुख से, प्राप्त किया, कोसा, कहती है, 'महापुरुष ! तू कवल को, सोचता है, जो दुर्लभ, सयम (का) क्षण, हारा (खोया) है, उसे नही जानता' ॥ खित्तउ, गत्तउ-खित्तो, पत्तो, क्षिप्त प्राप्त । मुण = जानना, देखो (३५) ।

(७) पृ० ४७१-७२, आठ छप्पय, मागधो के गाए, जिन्हे सुनकर प्रातःकाल कुमारपाल जागता था । इनमे से एक नमूने की तरह यहाँ देकर उसका वर्तमान हिंदी के अनुसार अक्षरांतर कर दिया जाता है । यह पहले कहा जा चुका है कि पुरानी कविता से सोमप्रभ की अपनी कविता क्लिष्ट है तथा नमूनो से पाठको ने भी यह जान लिया होगा । यह कविता डिंगल कविता के ढग की है और पृथ्वीराज रायसे के कल्पित समय से कुछ वर्ष पहले की है । इसका वर्तमान हिंदी मे परिवर्तन चाहे कुछ कठिन दीखे पर खडी वोली के प्रसिद्ध वर्तमान कवियो की रचना से, जिसमे कभी कभी 'था', 'है' के सिवाय कोई पद हिंदी का नही मिलता, सभी सस्कृत के तत्सम होते है, अधिक कठिन नही है—

(५२)

गयणमग्गसंलग्गलोलकल्लोलपरंपरु
निक्करुणुक्कडनक्कचक्कचकमणदुहकरु
उच्छलतगुरुपुच्छमच्छरिछोलिनिरंतरु
विलसमाणजालाजडालवडवानलदुत्तरु ॥
आवत्तसयायलु जलहि लहु गोपउ जिम्व ते नित्यरहिं ।
नीसेसवसनगणनिठ्ठवणु पासनाहु जे सभरहिं ॥

अक्षरांतर—

गमन-मार्ग-संलग्न लोल कल्लोल—परंपर ।
निठकरुणोत्कट-नक्र-चक्र-चक्रमण-दुख (!) कर ॥
उछलत गुरु पूच्छ-मत्स्य—रिछोलि—निरंतर ।
विलसमान—ज्वाला जटाल—वडवानल दुस्तर ।
आवर्त—शताकुल जलधि लघु गोपद जिमि ते निस्तरं ।
निःशेष-व्यसन'गण-निस्थापन पार्श्वनाथ जो सभरै ॥

रिछोलि = पंक्ति (देशी), निट्ठवन = बितानेवाला, समाप्त करनेवाला, नीठ जाना = बीतना (मारवाडी)। सभरहि—सभरना, सांभरना, सम्भारना सभालना (मराठी), सुभालना (पजाबी) = याद करना, स्मरण करना ।

---

(१) माइल्ल धवल के पहले का दोहा ग्रंथ ।

दिगबर जैनों के यहाँ एक ग्रंथ वृहत् नयचक्र के नाम से मिलता है। उसके कर्ता श्रीदेवसेन मुनि कहे जाते हैं, किंतु जैन इतिहास और साहित्य के विद्वान् शोधक नाथूराम जी प्रेमी ने सिद्ध किया है कि इसका नाम 'दव्वसहावपभास' अर्थात् द्रव्य स्वभावप्रकाश है और इसका कर्ता माइल्ल धवल है। माइल्ल धवल भी इसका कर्ता नहीं है, साधक मात्र है। वह स्वयं लिखता है कि पहले 'दव्वसहाव' पयास दोहाबंध में देखा जाता था। उसे सुनकर किसी शुभकर महाशय ने हँसकर कहा कि यहाँ शब्द शोभा

१ जैनहितैषी, भाग १४, अंक, १०—११, [illegible] १९१०, पृ० ३०५—३१० ।

नही, इसे गाथावध से कह दो तव माइल्ल धवल ने उसे गाथावध से रच दिया।

दव्वसहावपयास दोहयवंधेन आसि ज दिट्ठ।
तं गाहावधेण च रइय माइल्लधवलेण॥
सुणिऊण दोहरत्थ सिग्घ हसिऊण सुहकरो भणइ।
एत्थ ण सोहइ अत्थो गाहावधेन त भणह॥

यह 'दव्वसहावपयास' गाथा मे अर्थात् प्राकृत मे है। इसमे दो गाथाओ मे णयचक्क अर्थात् 'नयचक्र' नामक ग्रथ को और तीसरी मे नयचक्र के कर्ता देवसेनदेव गुरु को नमस्कार लिखा है। देवसेन के लिये कवि ने यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया है और एक दूसरी गाथा मे लिखा है कि देवसेनयोगी के चरणो के प्रसाद से यह (मुझे) प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि नयचक्र (जो लघुनयचक्र कहलाता है) के कर्ता देवसेनसूरि से माइल्ल धवल का निकटस्थ गुरु-शिष्य सवध था, परपरागत नही। देवसेनसूरि ने 'भीवसग्रह' ग्रथ मे अपने को श्रीविमलसेन गणधर का शिष्य कहा है और 'दर्शनसार' के अत मे लिखा है कि धारानगरी मे निवास करते हुए पार्श्वनाथ के मदिर मे स० ९९० मे माघ शुदि दशमी को यह ग्रथ रचा। यह सवत् विक्रम सवत् ही है क्योकि धारा (मालवा प्रात) मे यही प्रचलित था और दर्शनसार की अन्य गाथाओ मे जहाँ जहाँ सवत् का उल्लेख दिया है वहाँ वहाँ धिक्कमरा अस्स मरणपत्तस्स' पद देकर विक्रम सवत् ही प्रकट किया गया है[1]। यही और इससे २०।३० वर्ष आगे तक ही माइल्ल धवल का काल है।

माइल्ल धवल के इस कथन पर ध्यान दीजिए कि (१) दव्वसहावपयास 'दोहयवध' मे 'दिट्ठ' था, (२) 'दोहरत्थ' को सुनकर हँसकर शुभकर ने कहा कि इसमे अर्थ नही सोहता, इसे गाहावध मे कहो (३) माइल्ल धवल ने इसे गाहावध मे रच दिया। प्रवधचितामणि वाले लेख के उपक्रम मे दिखाया गया है कि 'गाथा' प्राकृत का उपलक्षण है और दोहा अपभ्रश या पुरानी हिंदी का, पुरानी हिंदी विद्या 'दोहाविद्या' कहलाती थी, और छद चाहे दोहा हो चाहे सोरठा, 'दोहाविद्या' मे आ जाता था, इसलिये दोहयवध = पुरानी हिंदी और गाहावध = प्राकृत। यदि दोहयवध मे भी वही

---

१ नाथूराम प्रेमी, वही, ३०९।

प्राकृत भाषा होती, केवल छंद का भेद होता तो शुभंकर को इतने नाक चढ़ाने और यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि यहाँ अर्थ नहीं बदला, गाथाबंध में भण दो। दोहरत्थ का शुभंकर लक्षण शीघ्र कहता है। उसका आशय यही है कि शुभंकर को यह बात खटकती थी कि धर्म विषयक ग्रंथ इस गँवारी बोली में क्यों है, क्यों नहीं यह अपने और धर्मग्रंथों की तरह पंडित भाषा प्राकृत में हो। इसलिए शुभंकर के कहने से माइल्ल धवल ने पुरानी हिंदी के काव्य का प्राकृतानुवाद कर दिया। विक्रम की दसवीं शताब्दी के अंत में दोहाबद्ध पुरानी हिंदी के काव्य होने का यह प्रमाण है। माइल धवल ने अपने मूलग्रंथ का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख तो किया, उन पंडितों की तरह नहीं जिन्हें तुलसीदास जी के रामचरित मानस के मेघ 'भाषानिबंधमतिमंजुल' का महत्त्व न हुआ कि 'भाषा' में अलौकिक चमत्कारपूर्ण ग्रंथ कहाँ से हो जाय जिन्होंने [illegible] का कल्पित संस्कृत रामचरितमानस बनाकर सहा जाल रचा और यह कहने का साहस किया कि तुलसीदास जी ने इसकी 'भाषा' की है।[1]

(९) खड़ी बोली—म्लेच्छभाषा।

एक समय मैंने हिंदी के एक वैयाकरण मित्र से कहा कि खड़ी बोली उर्दू पर से बनाई गई है, अर्थात् हिंदी मुसलमानी भाषा है। यह हँसी में कहा था किंतु मेरे मित्र को बुरा लगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही मिलती है अर्थात् खड़ी बोली में पाई जाती है। खड़ी बोली या पक्की बोली, रेख़्ता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी अरबी तत्सम या तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रचते थे, [illegible]

---

१ कहते हैं कि यह काव्य, जो [illegible] में [illegible] किया गया है, इटावे में मिला। पं० [illegible] के द्वारा [illegible] भी था। देखो ग्रियर्सन, ज० रा० ए० सो०, जनवरी, १९१४; सीताराम, वही, अप्रैल, १९१४।

मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानो ने आगरे दिल्ली सहारनपुर मेरठ की पडीभापा को 'खडी' वनाकर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी वनाया, किसी प्रातीय भापा से उनका परपरागत प्रेम न था। उनकी भापा सर्वसाधारण या राष्ट्रभाषा हो चली, हिंदू अपने अपने प्रात की भापा को न छोड सके। अव तक यही वात है। हिंदू घरो की वोलो प्रादेशिक है, चाहे लिखापढी और साहित्य की भापा हिंदी हो, मुसलमानो मे वहुतो की घर की वोली खडी वोली है। वस्तुत उर्दू कोई भापा नही है, हिंदी की 'विभापा' है, किंतु 'हिंदुई' भाषा वनाने का काम मुसलमानो ने वहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्ही की कृपा से हुई, फिर हिंदुओ मे जागृति होने पर उन्होने हिंदी को अपना लिया। हिंदी गद्य की भापा लल्लूलाल के समय से आरभ होती है, उर्दू गद्य उससे पुराना है, खडी वोली कविता हिंदी मे नई है, अभी अभी तक व्रजभापा वनाम खडी वोली का झगडा चल ही रहा था, उर्दू पद्य की भापा उसके वहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य--खडे रूप मे--मुसलमानी है हिंदू कवियो का यह सप्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रो से प्रादेशिक भापा कहलवाते थे और मुसलमान पात्रो से खडी वोली।

(१) ना० प्र० पत्रिका भाग १, पृष्ठ २७८-९ मे राव अमरसिंह के सलावत खाँ के मारने के दो कवित्त उद्धृत हैं। वहाँ इस विषय की टिप्पणी भी दी है। वहाँ शाहजहाँ की उक्ति का कवित्त तो इस प्रकार की भापा मे है कि--

> वजन माँह भारी थी कि रेख मे सुधारी थी
> हाथ से उतारी थी कि साँचे हू मे ढारी थी।
> सेख जी के दर्द माँहि गर्द सी जमाई मर्द
> पूरे हाथ साँधी थी कि जोधपुर सँवारी थी॥
> हाथ मे हटक गई गुट्टी सी गटक गई
> फेफडा फटक गई आँको वाँकी तारी थी।
> शाहजहाँ कहे यार सभा माँहि वार वार
> अमर की कमर मे कहाँ की कटारी थी॥

कवि की अपनी उक्ति ऐसी है--

> साही को सलाम करि मार्यो थो सलावत खाँ
> दिखा गयो मरोर सूर वीर धीर आगरो।

मीर उमरावन की कचेडी घुजाय मारी
खेलत शिकार जैसे मृगन मे बागरो
कहे रामदीन गजसिंह के अमरसिंह
राखी रजपूती मजबूती नव नागरा।
पाव भेर लोह मे हनाई मारी पातसाही
होती समशेर तो छिनाय लेनो आगरो॥

(२) भूषण की भाषा से सब परिचित है। वह हिंदू कविता की [illegible] भाषा, पडी भाषा, व्रजभाषा का प्रयोग करता है। किंतु शिवाबावनी मे जहाँ 'मुगलानियाँ मुखन की लालियाँ' के मलिन होने और बेगमों की विरह का वर्णन है उन छदो मे कुछ छीटा मुसलमानी अर्थात् खडी बोली का स्वाभाविक रंग लाने के लिये दिया है। मिलाओ[1]—

(क) बाजि गजराज शिवराज सैन साजत ही०
(ख) कत्ता की कराकन चकत्ता को कटक काटि०
(ग) ऊँचे घोर मदर के अदर रहन वारी०
(घ) उतरि पलग ते जिन दियो ना धरा मे पग०
(ङ) अदर ते निकसी न मदर को देख्यो द्वार०
(च) अतर गुलाब रस चोआ घनसार सब०
(छ) सोधे के अधार किसमिस जिनको अहार०

इन छदो मे कई शब्द, विशेषत क्रियापद, ध्यान देने योग्य है। विस्तारभय से पूरे छद नही दिए जाते क्योंकि वे प्रसिद्ध है। अंतिम छंद का अतिम चरण है—

'तोरि तोरि आछे से पिछौरा सो निचोरि मुख [illegible] ([illegible] कवि की भाषा) कहाँ पानी मुकतो मे पाती हैं' (यह [illegible])।

एक यह कवित्त भी देखिए जिनमे भूषण की उक्ति [illegible] का मिश्रण है—

अफजल खाँ को जिन्होंने मयदान मारा
मारा बीजापुर गोलकुंडा मारा जिन [illegible]।

---

1. हिंदी साहित्य सम्मेलन का संस्करण, पृ० ५[illegible]।

भूपन भनत फरासीस त्यो फिरगी मारि
हवसी तुरक डारे उलटि जहाज है।
देखत मे खान रुस्तम जिन खाक किया
सालति सुरति श्राजु सुनी जो अवाज है।
चौंकि चौंकि चक्त्ता कहत चहुधाँ ते यारो
लेत रह्यो खवर कहाँ लो शिवराज है ॥

(१) भानुचद्र नामक जैन विद्वान् अकवर के यहाँ थे। उन्होने कादवरी की टीका लिखी है। (ना० प्र० पत्रिका भाग १, पृ० २३६) स्वरचित विवेकविलास तथा भक्तामर स्तोत्र की टीका में उन्होने अपना एक विशेषण 'सूयसहस्रनामाध्यापक' अर्थात् सूयसहस्रनाम का पढानेवाला भी दिया है। यह प्रसिद्ध है कि वादशाह अकवर सूर्य की ओर मुँह करके सूर्य के एक हजार एक नाम पढा करता था। यह सहस्रनाम स्तोत्र भानुचद्र ने सग्रह किया और अकवर को पढाया था। ऋषभदास कवि (स० १६८५) अपने हीरविजयसूरिरास (गुजराती) मे लिखता है कि--

पातशाह काशमीरें जाय भाणचद पूँठे पणि थाय।
पूछइ पातशा ऋषि ने जोड खुदा निजीक कोने वली होइ।
भाणचद वोल्या ततखेव नजीक तरणी जागतो देव।
ते समर्प्यो करि वहु सार तस नामि ऋद्धि अपार।
हुओ हुकुम ते तेणीवार सभलावे नाम हजार।
आदित्य ने अरक अनेक आदिदेव माँ घणो विवेक।

जैनाचार्य प्रसिद्ध शोधक विजयधर्मसूरिजी महाराज के सग्रह मे इस सूर्यसहस्रनाम की एक प्रति है जिसके अत मे लिखा है कि अकवर इसे रोज सुनते थे[२]। अस्तु। यह भानुचद्र फिर जहाँगीर के राज्य मे उसके पास आया। जहाँगीर ने उसे कहा कि जैसे वाल्यावस्था मे तुम मुझे

---

१ अलवदाउनी, लो का अनुवाद, जिल्द २ पृ० ३३२।

२ अमु श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्र प्रत्यह प्रणमत्पृथ्वीपतिकोटीरकोटिसघट्टित पदकमलत्रिखडाधिपतिदिल्लीपतिपातिसाहि श्री अकव्वरसाहिजलालदीन. प्रत्यह शृणोति सोऽपि प्रतापवान् (मुनिराज विद्याविजय रचित सूरीश्वर अने सम्राट्, पृ० १४६)।

धर्मोपदेश किया करते थे[1] वैसे अब मेरे पुत्र को पढ़ाओ। इसका वर्णन कवि लिख तो पुरानी गुजराती (पडी) मे रहा है, किन्तु जहाँगीर की उक्ति उसने खडी बोली मे दी है—

मिल्या भूपनइ भूप आनद पाया।
भलइ तुमे भलइ अही भाणचद आया।
तुम पासिथिइ मोहि सुख बहुत होवइ
सहरिआर भणवा तुम वाट जोवइ॥
पढाओ अम्ह पूत कूँ धर्मबात
जिउ अचल सुणाता तुम्ह पासि तात।
भाणचद कदीम तुम हो हमारे
सब ही थकी तुम्ह हम्महि पियारे[2]।

(४) पूर्वोक्त कवि ऋषभदास ने श्रीहीरविजयसूरिरास मे श्रीहीरविजय सूरिजी तथा अकबर की मुलाकात का वर्णन किया है जो गुजराती मे है। अकबर कह रहा है कि आगरे से अजमेर तक मैंने खभे बनवाए हैं।[3] आपने देखे होगे, प्रत्येक पर पाँच पाँच सौ हरिणो के सीग मैंने लगवाए है। इस प्रसग को कवि यो लिखता है—

---

१. भानुचद्र को उपाध्याय पदवी बादशाह के सामने लाहौर मे दी गई थी। उसने जहाँगीर और दानियाल को जैन शास्त्रों का अभ्यास कराया था (वही, पृष्ठ १५३)।

२. ऐतिहासिक राससग्रह, भाग ४, पृ० १०९।

३. अकबर प्रतिवर्ष अजमेर मे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की जियारत को आता था। मार्ग मे जहाँ पडाव थे वहाँ महल और कोस कोस पर खभा और कुँआ बनवाया था। (अलबदाऊनी, लो का अनुवाद, जिल्द २, पृ० १७६)। अब भी स्थान स्थान पर ऐसे खभे या उनके भग्नावशेष दिखाई देते हैं। एक जयपुर मे आमेर जाती सडक पर है, पर दूसरा जयपुर से कुछ ही दूर पूर्व की रेल के किनारे दिखाई देता है। इनपर सींग लगाने की बात जैन ग्रंथो मे ही हैं। ये लश्कर के रास्ता न भूलने के लिये नाकिन(?) और कूच का नगारा बजाने के लिये थे।

देखे हजूरे हमारे तुम्ह एक सो चउद (ह) कीए वे हम्म ।
अकेके सिह पच से पच पातिग करता नहि वलवच ॥

(५) म० १६०२ की कार्तिक शुक्ल एकादशी को भट्ट नारायण ने पव्येक पडित के पुत्र केदार के बनाए वृत्तरत्नाकर पर टीका लिखी। उसने अपने पूर्वपुरुषो का यह पता लिख दिया है—भट्ट नागनाथ, पुत्र) चागदेव भट्ट, (पुत्र) भट्ट गोविद रामभक्त (पुत्र) भट्ट रामेश्वर विश्वामित्र वश (गोत्र) रूपी समुद्र का चद्र (पुत्र) ग्रथकर्ता नारायण, काशी मे। वह लिखता है कि जाति, वृत्त दोनो प्रकार का छद केवल सस्कृत मे ही नहीं, कवि की इच्छा से प्राकृत, देशभाषाओ मे भी होता है । प्राकृत के कुछ उदाहरण देकर उसने भाषा के उदाहरण दिए है ।

(क) महाराष्ट्र भाषा मे उपजाति छद का उदाहरण—

अगा मुरारी भव दुख भारी कामादि वैरी मन हें थरारी ।
मी मूढ देवा न करीच सेवा माझा कुठावाँ परिताँ करावा ॥

(हे मुरारी, भव दु.ख भारी है, काम आदि वैरी हैं, इनसे मन काँपता है हे देव, मुझ मूढ ने आपकी सेवा न की, मेरी दुरवस्था को दूर कर) ।

(ख) गुर्जर भाषा मे स्रग्विणी छद का उदाहरण—

वित्तते संचवूं युक्तते भोगवू अग्नितें होमवूं विप्रते आपवू ।
पापतं खडवू कामते दडवू पुण्यते सचवूं रामते सेववू ॥

(वित्त का संचय करो, उसे जुगत से भोगो, अग्नि मे होमो, ब्राह्मण को दो, पाप का खडन करो, काम को दडित करो, पुण्य सचय करो, राम को सेओ ।-यदि 'ते' विभक्ति न मानी जाय और मध्यपुरुष का सर्वनाम माना जाय तो 'तुझ से वित्त संचय किया जाय' इत्यादि अर्थ होगा) ।

(ग) कान्यकुब्जभाषा मे वसंततिलका का उदाहरण—

कन्दर्परूपजवने तुललोन कृष्ण
से कोप काम हमही वहु पीर छोडी ।
तो भेटि के विरह पीर नसाउ मारी
यै भाँति दूति पठई कठिलात गोपी ॥

(बहुत अस्पष्ट हैं। काशी के संस्कृतज्ञ पंडित ने इसे कान्यकुब्जभाषा कहा है, वस्तुत यह व्रजभाषा और पूर्वी का मिश्रण अर्थात् प्रचलित 'खड़ी बोली' है। आशय यह जान पड़ता है कि काम के रूप को जाननेवाले कृष्ण, अपने मे लीन गोपो को बहुत पीडा देकर कोप करके तैने क्यो छोडा ? मिल के मेरी विरह पीडा नष्ट कर—यो दूतिका भेजी।)

(घ) म्लेच्छ और संस्कृत के संकर मे मालिनी, किसी कवि का—

हरनयनसमुत्थज्वालवसन्हिज्जलाया
रतिनयनजलौघँ खाक वानकी वहाया।
तदपि दहति चेतो मामक क्या करोगी
मदनशिरसि भूय क्या वला आगि लागी॥

(कामदेव की बात देखिए—पहले उसे शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्निज्वाला ने जला दिया, बाकी खाक रही थी, वह रति के आंसुओ मे वह गई। तो भी वह मेरे चित्त को जलाता है ? क्या करेगी ! न मालूम कामदेव के सिर पर फिर यह क्या बला की आग लगी, जल वहकर भी जी उठा !!)

कवि ने इसे म्लेच्छभाषा केवल खाक, बाकी और बला शब्दो पर से ही नही कहा है, इसकी खडी रचना पर से ऐसा लिखा है। संस्कृत के पंडित की दृष्टि मे यह पक्की बोली म्लेच्छो की भाषा थी !!

हेमचंद्र के व्याकरण और कुमारपाल चरित मे से।

पाणिनि।

'शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृति'[1]

संस्कृत व्याकरण मे जो यश पाणिनि को मिला वह किसी के भाग्य मे नही था। ऐसा सर्वांगसुंदर पूर्ण व्याकरण किसी भाषा मे न बना। यो तो महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री कहते हैं[2] कि मैक्डानल

1. पतंजलि, २।३।६६।
2. The Professor's Vedic Grammar is a unique work in so far as he has done it without Panini's Vaidika Prakriya. He has evolved the grammar from the language itself and is as scientific as his great Predecessor, Panini—एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के वार्षिकोत्सव पर सभापति का व्याख्यान, पृ० ६।

(मुग्धानन्दाचार्य) ने अब पाणिनि का सा वैज्ञानिक व्याकरण स्वतन्त्र रीति पर बना दिया है किंतु उस व्याकरण की रचना पाणिनि के व्याकरण के होने ही मे सभव हुई। विभु आकाश, समुद्र या विष्णु की तरह पाणिनि के व्याकरण की नाप न ईदृक्ता मे हो सकती है न इयत्ता से। वह वही है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह ऐसा है या इतना है। जैसे पाणिनि अपने पहले के सब संस्कृत वैयाकरणो का संघात है, वैसे ही वह अपने पिछले सब वैयाकरणो का उद्गम है। अपने से पहले जिन वैयाकरणो का नाम उसने, मतभेद दिखाने के लिये या पूजार्थ,[1] ले दिया उनका नाम तो रह गया, बाकी के नाम तक का पता नही। पूर्वाचार्यो की जो सज्ञाएँ उसने प्रचलित समझकर ले ली वे रह गईं[2], बाकी पुराने सिक्के पाणिनि की नई टकसाल की मोहरो के आगे न मालूम कहाँ चले गए। पहले के व्याकरणो का एकदम अभाव देखकर कोई यह कल्पना करते है कि पाणिनि शास्त्रार्थ मे जिन वैयाकरणो को हराता गया उनके ग्रथो को जलाता गया। कोई कहता है कि शिवजीके हुकार-वज्र से, जो, जैसा कि आगे कहा गया है, पाणिनि के दुर्बल पक्ष की हिमायत पर

---

१. आपिशलि ६।१।९२, काश्यप १।२।२५, गार्ग्य ८।३।२०, गालव ७।१।७४, चाक्रवर्मण ६।१।१३०, भारद्वाज ७।२।६७, शाकटायन ३।४।१११, शाकल्य १।१।१६, सेनक ५।४।११२, स्फोटायन ६।१।१२३, उत्तरी (उदीचाम) ४।१।१५३, कोई (एकेषा) ८।३।१०४, पूर्वी (प्राचाम्) या पुराने ४।१।१७।

२. वर्णं वाहु पूर्वसूत्रे (भाष्य, द्वितीय आह्निक) व्याकरणातरे वर्णा आक्षराणीति वचनात् (कैयट), आगो नाऽस्त्रियाम् (१।३।१२०) आङिति टासज्ञा प्राचाम् (कौमुदी)। प्रथमा आदि विभक्तियो के नाम, समासो के नाम, कृत, तद्धित आदि नाम, पुराने है। अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयम् पूर्वसूत्रेषु येऽनुबधा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते (पतजलि, औङआप ७।१।१८ पर) पूर्वाचार्यैर्ह्रे अपि द्विवचने ङिति पठिते न चेह क्वचिदप्यौङ् प्रत्ययोस्ति। सामान्यग्रहणार्थं च पूर्वसूत्रनिर्देशस्तेन पूर्वसूत्रे य औङ् तस्य ग्रहण भवति (वही कैयट)। तदशिष्य सज्ञाप्रमाणत्वात् (पाणिनि १।२।५३) के भाष्य तथा कैयट से जाना जाता है कि टि, घु, भ आदि सज्ञाएँ भी पुरानी हैं।

था, सब नष्ट हो गए। कोई कहता है कि सब वैयाकरण विश्वामित्र नाम विश्व + अमित्र बनाकर उसके शापभाजन हुए, पाणिनि ने 'मित्रे चर्षौ' ६।३।१३०) बनाकर उसकी खुशामद की तथा वर पाया[१]। पाणिनि को शिवकोप या विश्वामित्रानुग्रह की आवश्यकता न थी, स्वयं ही उसके तेज आगे और व्याकरण न ठहर सके। पाणिनि के व्याकरण में विशेषता क्या ? नई उपज का भाव दिखाने के लिये 'उपज्ञ' और 'उपक्रम' पद आया करते[२] जैसे दूरी और तोल के नाप पहले पहल नंद (राजा) ने चलाए। यों ही पाणिनि के लिये कहा जाता है कि अकालक व्याकरण पाणिनि ने पहले पहले चलाया[३] अर्थात् पहले क्रियापद (आख्यात) के रूपों के लिये कालवाचक नाम थे[४] पाणिनि ने उन्हें हटाकर लट्, लिट् आदि नाम चलाए।

---

१. यहाँ पाणिनि ने उस प्राकृतिक मौखिक दीर्घ का उल्लेख किया है जो 'अ' के साथ दूसरा पद मिलाने से हो जाता है। उसने विश्वाराष्ट्र, विश्वागट्, विश्वानर और विश्वामित्र का उल्लेख किया है, गँवारी बोली में तो गोंगी विश्वानाथ, अब तक होता है।

२. उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् । (२।४।२१) नन्दोपक्रमाणि मानानि।

३. पाणिन्युपज्ञमकालकं (आकालापकं अशुद्ध पाठ है) व्याकरणम्। (काशिका)।

४. तेन तत् प्रथमतः प्रणीतं। स स्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकारं न कृतवान्। (जिनेंद्रबुद्धि का न्यास) भवन्ती (पाणिनि का लट्) परोक्षा (लिट्) अनद्यतनी भूता या ह्यस्तनी (लङ्) अद्यतनी (लुङ्) भविष्यन्ती (लृट्) अनद्यतनी, भाविनी, श्वस्तनी (लुट्) अतिसर्गी (लोट्) क्रियाविधा (लिङ्), आशी (आशीर्लिङ्) अतिपातिका (लृङ्)। लोट् तथा लिङ् को पंचमी या सप्तमी भी कहते थे जिससे सुबंत विभक्तियों में गोलमाल हो जाता होगा। पाणिनि ने इनके लिये वे नाम धरे जो कोष्ठक में हैं और वैदिक (Subjunctive) को लेट् कहा। यह क्रम 'ल' कार की 'ह्रस्व' बाराखड़ी और उसके आगे ट् या ङ् का संकेत लगाकर क्रम में रखना मात्र है। पाणिनि की बुआ के बेटे संग्रहकार व्याडि (दाक्षायण) ने इन्हीं दस लकारों में 'ट्, ङ्' की जगह 'हुप्' लगाकर नए नाम बनाए हैं इसलिये व्याडयुपज्ञं दुष्करणम् (दुष्करणं नहीं)।

कहते हैं कि पीर स्वय नही उडते, मुरीद उनके पर लगा देते हैं। पाणिनि ने स्वय दावा नही किया है कि जिन चौदह सूत्रो मे वर्णमाला का क्रम बदलकर मैंने इतना सक्षेप और क्रमसौकर्य पाया है उनका मुझे इलहाम हुआ है, किंतु बात चल गई कि महेश्वर के डमरु के चौदह बार बजने से पाणिनि ने उन्हें पाया[1]। करामातो पर लोगो का विश्वास हो जाता है, पुरुषपरिश्रम पर नही। कन कन जोडने से लखपती होते है यह कोई नही मानता, किंतु बाबाजी मत्र के बल से हँडिया मे भरे गहनो को दूना कर देते है या एक नोट के दो कर देते हैं यह मानने को गाँव का गाँव तैयार हो जाता है। पुराने महलो या किलो को भूतो ने रात ही रात मे बना दिया यह विश्वास होता है, यद्यपि बडे बडे पुल ईट ईट जोडकर बनते हुए साम्ने दिखाई दे रहे है। बाजीगर के आम की तरह कोई परम इष्ट वस्तु वर्ष मे, छह महीने मे, दो महीने मे, किसी निर्दिष्ट तिथि तक, मिल जायगी—इस आशा पर जो उछल कूद होती है उसका शताश भी न दिखाई दे, यदि यह कहा जाय कि दस पद्रह वर्ष चोटी का पसीना एडी तक बहाकर वह मिलेगी। पाणिनि के अलौकिक शब्दज्ञान और अपूर्व व्याकरण पर 'बड्ड कथा' मे यह कथा है कि पाटलिपुत्र मे आचार्य वर्ष के यहाँ एक 'जडबुद्धितर' पाणिनि नामक विद्यार्थी था, गुरुपत्नी उससे बहुत कसकर काम लेती, पानी के घडे भरवाया करती, इसका परिणाम वही हुआ जो होता है—लडका जान

१. वार्तिककार तथा भाष्यकार कही नही जतलाते कि ये १४ सूत्र पाणिनि के नही है। भाष्य के द्वितीय आह्निक की व्याख्या मे तीन जगह कैयट उनके कर्ता को आचार्य या सूत्रकार कह देता है (जो पाणिनि के लिये ही आता है) किंतु तीनो जगह नागोजीभट्ट मानों कैयट की आस्तीन खैंचता है कि हैं! सूत्रकार यहाँ महेश्वर या वेदपुरुष है, क्या कह रहे हो? कैयट तक तो प्रत्याहारसूत्र आचार्य या सूत्रकार के ही माने जाते थे। नदिकेश्पर कृत कारिका बहुत पीछे का ग्रथ है तथा उसमे जो इन सूत्रो का आध्यात्मिक अर्थ किया है वह बडी खैंच तान का, बौद्ध तत्रो मे मातृका के महत्व के

बचाकर भागा, तपस्या करने जा बैठा। शिवजी ने प्रसन्न होकर व्याकरण दिया। उसे लेकर शास्त्रार्थ करने आया। ऐंद्र व्याकरण का प्रतिनिधि वररुचि इस नए वैयाकरण को हरानेवाला ही था कि शिवजी ने अपने चेले की हिमायत पर, उसका पक्ष गिरता देख, हुंकार वज्र चला दिया, बस ऐंद्र व्याकरण नष्ट हो गया--जिता. पाणिनिना सर्वे मूर्खीभूता वय पुन !! इस कहानी मे, वड्डकथा के आधार से कथासरित्सागर में भी है, सार इतना ही है कि 'जिताः पाणिनिना सर्वे'!!!

इस कथा मे वररुचि को पाणिनि का समकालिक, नही नही उससे कुछ पुराना, कहा गया है। वस्तुत वह पाणिनि से कई सौ वर्ष पीछे हुआ। उसके पहले पाणिनि पर कई व्याख्यान के वार्तिक बन चुके थे। वेद के समय से प्रसिद्धि चली आती है कि वाणी का पहला व्याकरण इद्र ने बनाया[1]। वररुचि (कात्यायन) भी ऐंद्र सप्रदाय का था। किंतु उसने पाणिनि को उस्ताद मान लिया। सच्चे वीर की तरह अपने से प्रबल वीर के झडे के नीचे आ खडा हुआ। कुफ्र छोडकर कावे मे आ गया। उसने पाणिनि की रचना पर वार्तिक लिखे, किंतु अधीनता के साथ लोहा मानकर, यही कहा कि इतना और कह दो,[2] इतना और गिनना चाहिए[3]। पाणिनि को परिभाषाएँ उसने मान ली, पुरानी आदत से सध्यक्षर, सक्रम, समान परोक्षा, भवती या अद्यतनी भी उसके मुँह से निकलता रहा[4]। पाणिनि के समय से उसके समय तक जो नए शब्द चल गए थे या अर्थो मे परिवर्तन हो गए थे वे भी उसने गिन दिए। पीछे कई सौ वर्ष बीतने पर, जिनमे कई गद्य और पद्य वार्तिक बने, पतजलि ने बडी व्याख्या या महाभाष्य बनाया। अनद्यतनी, ह्यस्तनी या लङ् क्रिया के रूप का प्रयोग उस भूतकाल के अर्थ मे होता है कि जो बीता

---

१ तैत्तिरीय सहिता ६।४।७, शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१२, १५, १६।

२ इति वक्तव्यम्।

३ उपसख्यानम्।

४ पीछे के वैयाकरण, अपने को पुरानी शैली पर चलनेवाला तथा पाणिनि को सुधारक बताने के लिये, ऐसे पदो को उसी नाम से कहते रहे है जिसने कुछ लोग हिंदी को जगह आर्यभाषा और नमस्कार की जगह नमस्ते कहते हैं।

ही किंतु जिसे कहनेवाले ने देखा हो, या जिसे वह कम से कम देख सकता था, परोक्ष या लिट् का प्रयोग बिलकुल आँख से ओझल बात के लिये आता है। इसपर पतंजलि ने दो उदाहरण दिए है जो उसके समय को स्पष्ट बतलाते है—यवन ने साकेत को घेरा, यवन ने मध्यमिका को घेरा[1]। पतंजलि के समय मे संस्कृत उस अर्थ मे भाषा न रही थी जिस अर्थ मे पाणिनि ने उसे भाषा कहा है। वह एक गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंशो का उल्लेख करता है,[2] देवदिण्ण को देवदत्त से पृथक् करता है[3], आणवयति, वट्टति, वड्ढति, को धातुपाठ से अलग करता है,[4] दृशि के लिये दसि और कृषि के लिये कसि का प्रयोग होना बतलाता है[5]। साधु शब्दो के प्रयोग मे आर्यावर्तवासी 'शिष्टो' की दुहाई देता है जो कुंभीधान्य, अलोलुप आदि हो[6]। सो पाणिनि की 'भाषा' अब "शिष्टो की भाषा' रह गई थी जिसके जानने मे 'धर्म' होता था[7], पहले वहता पानी था, अब कुआँ खोदनेवाले की तरह पहले अपशब्दो की धूल से ढके जाकर फिर शिष्ट प्रयोग के जल से शुद्धि मिलती थी[8]। पतंजलि ने कात्यायन के आक्षेपो का समाधान किया है।

१ अनद्यतने लङ् (पाणिनि ३।२।१११) लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शन-विषये (कात्यायन) अरुणद् यवन साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्। यह यवन मिनेडर (मिलिंद) था। इसी तरह पिछले वैयाकरणों ने उदाहरणो से अपना अपना समय बता दिया है। अजयद् गुप्तो हुणान् (चंद्रव्या०-वृत्ति), अदहदमोघवर्षोरातीन् (जैनशाकटायन), अदहदरातीन् कुमारपाल (हेमचंद्र के व्याकरण की टीका मलयगिरिकृत)। कई लोग बिना समझे इन्ही उदाहरणो को दोहरा गए है, जैसे, काव्यानुशासनवृत्ति मे हेमचंद्र 'अजयद् गुप्तो हूणान्'।

२ प्रथम आह्निक।

३ देवदिण्ण (जैसे रामदहिन, रामदीन)—द्वितीय आह्निक।

४ पाणिनि १।३।१ 'भूवादयो धातव' पर।

५. वही।

६. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। ६।३।१०६ का भाष्य।

७. प्रथम आह्निक

८. 'कूपखानकवत्'—प्रथम आह्निक

'मांगलिक आचार्य (पाणिनि) ने शुद्ध स्थान में पूर्वाभिमुख बैठकर हाथ की कुशा से पवित्र करके सूत्र बनाए हैं उनमें एक अक्षर भी अनर्थक नहीं हो सकता'[1], 'सामर्थ्ययोग से देखता हूँ कि इस शास्त्र में कुछ भी अनर्थक नहीं है'[2], 'आचार्य की इतनी सी बात सह लो'[3], 'कहने को तुम ठीक हो, किंतु अपाणिनीय होता है इसलिये जैसा रक्खा है वैसा (यथान्यास) रहने दो', इत्यादि उसके वाक्यों मे पाणिनिपूजा कितनी बद्धमूल हो गई थी यह जान पडता है। पाणिनि के सारे सूत्रपाठ को एक जुड़ा हुआ (संहिता) पाठ मानकर, कहीं उनमे चिपका अक्षर (प्रश्लेष) देखकर और कहीं प्रचलित सूत्र के दो भाग करके काम निकालना भी पड़ा है। कात्यायन और पतंजलि ने इतने भारी वैयाकरण होकर भी नया राज नही जमाया, पाणिनि के साम्राज्य के भीतर ही कर दिया और स्वराज्य पाया। यह व्याकरण के 'त्रिमुनि' हुए, इनका एक ही संप्रदाय रहा। इस संप्रदाय मे ऐतिहासिक विवेक की वह बात उदारता से मानी जो और किसी हिंदू शास्त्र में नही चली अर्थात् 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्'। पाणिनि से कात्यायन और कात्यायन से पतंजलि अधिक प्रमाण। और सब जगह इससे उलटा है।

अस्तु। इन तीनों ने व्याकरण खेती को लुन लिया। पीछे व्याकरण का अध्ययन नही रहा, पाणिनि का अध्ययन रह गया। इस सूत्रत्रयी के आगे कौन कोई उजियारा करता ? टीका व्याख्यान, खंडन मंडन, इसी बात पर होने लगे कि पाणिनि ने यह क्यों कहा, यह पद क्यों रक्खा। आस्तिकों के लिये सूत्रपाठ में छेड़छाड़ करना असंभव था। कुछ बौद्ध टीकाकारों ने सूत्रों में कुछ बढ़ाना चाहा तो आस्तिकों से उन्हें डाँट मिली कि हमारे पारायण की चीज मे क्षेपक मिलाते हो[4]।

इनके पीछे कुछ अहिंदू (बौद्ध और जैन) सीला बीननेवाले हुए। कोई-कोई सीला जो उन तीनों लुननेवालों से रह गया था, या उनके पीछे प्रयोग में

---

१ पाणिनि १।१।१ पर।

२ ६।१।३का भाष्य।

३ प्रथम सूत्र।

४. चांद्र व्याकरण के लगभग ३५ सूत्र काशिकाकारों ने सूत्रपाठ में मिलाना चाहा। कैयट ने जगह जगह पर लिखा है कि उनका 'अपाणिनीय सूत्रपाठ'। पा० ४।१।१४ ...

आया, इन्होने चुना[1]। किंतु और बातो मे विना समझे लीक पीटते गए, अपना नया सप्रदाय चलाना चाहते रहे। जैसे हिंदुस्तान मे कई राजाओ ने अपना नया सवत् चलाया जो कुछ ही वर्ष पीछे उनके वश का राज्य नष्ट होने पर आगे न चला वैसे ही इन्होने नई परिभाषाएँ चलाई। पाणिनि ने बहुत सक्षेप किया था चाहे उस समय लेखन सामग्री की कमी से सक्षिप्त लिखने की चाल रही हो, चाहे कठस्थ करने के सुभीते के लिये, सूत्र ऐसे रचे गए हो, चाहे वैदिक साहित्य और स्वरविचार की अधिकता से सक्षेप करना पडा हो। अब कागज की कमी न थी, रटने की चाल भी कम हो गई थी, न इनकी रचना मे ऐसी पवित्रता थी कि वह पारायण मे आती, और वैदिक भाग और स्वर को इन्होने छोड ही दिया था। तो भी पाणिनि से बढकर सक्षेप करने की धुन इनपर सवार थी, पाणिनिवालो ने आधी मात्रा के लाघव को पुत्रोत्सव समझा तो इन्होंने पौत्रोत्सव समझा। पाणिनि से अपना विलगाव दिखाने के लिये कुछ पुरानी सज्ञाएँ काम मे ली, कुछ नई गढी, उसकी 'संज्ञा' को, 'नाम' कहा,[2] 'सु' को 'सि'[3] कहा, 'हल्' को

---

१ जैसे विश्रम के अर्थ में 'विश्राम' (चाद्र, मेघदूत श्लोक २५की मल्लिनाथ कृत टीका)। जैसे बार्हस्पत्य सवत्सर अर्थात् जिस नक्षत्र मे बृहस्पति का उदय सूर्य से युति होकर फिर अस्त से निकलने पर वर्ष के आरभ मे हो उसपर से वर्ष का नाम पौपसवत्सर, माघसवत्सर आदि रखने से गणना करना। पाणिनि, कात्यायन, पतजलि के समय मे यह बार्हस्पत्य गणना नही थी, उन्होने सास्मिन् पौर्णमासीति सज्ञाया (४।२।२१) नक्षत्रेण युक्त काल (४।२।३) से पौप, माघ आदि महीनो के नाम ही बनाए। बार्हस्पत्य गणना पुराने कदवो और गुप्तो के शिलालेखो मे मिलती है। (प० गौरीशकर हीराचद ओझा जी की प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८७) चाद्र व्याकरण मे इसके लिये सूत्र है—गुरुदयाद्भाद् युक्तेऽब्दे, शाकटायन—उदितगुरोर्भाद्युक्तेऽब्दे। काशिकाकार ने 'पौष मास' की तरह ही पौष सवत्सर (मासार्धमाससवत्सराणामेपा सज्ञा) बनाना चाहा, किंतु यो प्रत्येक सवत्सर ही पौप, माघ आदि हो जाता है, विशेष सज्ञा नही होती, हर एक मे पुष्य, मघा आदि आते हैं, विना गुरूदय का उल्लेख किए काम नही चलता।

२ चाद्र व्याकरण, 'असज्ञकम्'।

३ 'सु' 'सि' मे एक रहस्य है। सिद्ध पद के अंत मे स् (ꣳ) मे आता है, या सधि मे ओ या र। सु सि मे उ इ दोनो वैयाकरणो मे सकेत है। शौरसेनी

'हस्' किया। समेटकर कहने का ढग (प्रत्याहार) तो उसी से लिया किंतु कुछ अक्षर इधर उधर किए। कही सक्षेप के लिये पाणिनि के सूत्र के पद उलटे पुलटे किए, कही कात्यायन के वार्तिक की नई बात सूत्र मे घुसेडी, कही एक सूत्र को तोडकर दो और कही दो को चिपकाकर एक कर दिया। उदाहरण देना केवल विस्तार करना है। इनका प्रचार तब तक और वैसा ही हुआ जब तक और जैसा स्वामी दयानद की 'नमस्ते' की रूढि के जमने के पहले 'सलामवालेकम्' 'वालेकम-स्सलाम' को देखादेखी राजा जयकृष्णदास आदि के चलाए 'परमात्मा जयति 'जयति परमात्मा' का रहा था। अपनी साख जमाने लिये अपने सप्रादाय को पुराना बनाने के लिये कई यत्न किए। पाणिनि के वैसा न कहने पर भी यह प्रसिद्धि चल गई थी कि उसके प्रत्याहारसूत्र और उसका व्याकरण महेश्वर से आया है। एक कहता है कि जब महावीर जिन कुमार थे, उस समय इद्र ने उससे प्रश्न करके जो व्याकरण सीखा वही प्रश्नोत्तर हमारा जैनेंद्र व्याकरण है[१]। 'मत पानी मे नीच', और 'लड्डुओ से सोच' का भेद न जाननेवाले राजा के लिये जो व्याकरण बनाया गया वह महेश्वर का नही तो महेश्वर के पुत्र कुमार का कहा गया[२]। एक व्याकरण साक्षात् सरस्वती का सिखाया कहलाया[३]। एक ने पाणिनि के उल्लिखित पूर्वज शाकटायन के नाम पर अपनी कृति बनाई[४] और उनकी विशेष बातो को अपने व्याकरण मे मिलाकर शाकटायनी रग देना चाहा, किंतु पूरी तरह बात छिपाई न जा सकी[५]। पाणिनि ने तो मतभेद या आदगार्य

मे पुरुसो होता है, मागधी मे पुलिसे। सस्कृत मे तो 'स्' ही काफी था। क्या यह मानें कि शौरसेनी 'प्राकृत' को 'सस्कृत' करनेवालो ने 'पुरुसो' देखकर 'सु' माना, और मागधी के आधार पर सस्कृत करनेवालो ने 'पुलिसे' पर निगाह जमाकर 'सि' माना ? यह उल्टी गगा नही है, सस्कृत के वास्तव रूप की मूलभित्ति की कल्पना है।

१ यदिद्राय जिनेंद्रेण कौमारेऽपि निरूपितम्। ऐंद्र जैनेंद्रमिति तत्प्राहु शब्दानुशासनम्।

२ शर्ववर्मन् का कौमार या कालाप व्याकरण—'मोदकं देहि मा राजन्'।

३ अनुभूति स्वरूपाचार्य का सारस्वत।

४. जैन या अभिनवशाकटायन दक्षिण के राठौड राजा अमोघवर्ष के यहाँ था। ईसवी नवी शताब्दी का अत उसका काल है।

५ जैसे पाणिनि कहता है कि मेरे मत मे 'अयान्' होता है, शाकटायन के

पुराने वैयाकरणो के नाम दिए इन्होने भी वैसे ही सूत्र ढंग पर कई नाम दिए जिनमे कई कल्पित है[1]। ये व्याकरण दो तरह के बने। एक तो हिंदुओ के वेदाग पाणिनि व्याकरण से ही हमारा काम क्यो चले इसलिये बौद्ध, दिगबर जैन, और श्वेतावर व्याकरण बनाए गए। उनका पठन पाठन भी हुआ टीकाएँ भी बनी, किंतु अपने गुट के बाहर प्रचार न हो सका। यह वैसा ही आदोलन था जैसा मुसलमान जज, अब्राह्मण प्रतिनिधि और नैषध की जगह धर्मशर्माभ्युदय पढाने के लिये होता है। दूसरे वे जो पाणिनि की साकेतिक कठिनता से बचकर आलसियो, राजाओ, बनियो और साधारणजनो को[2] दस दिन मे[3] व्याकरण सिखाने के लिये बनाए गए। दोनो से अधिक काम न सरा क्योंकि सार सस्कृत वाड्मय मे पाणिनि की परिभाषाओ के चलने से पहले पक्ष को अधिक पढने पर अपनी सोबी नौगढ़ा परिभाषाएँ भूलनी पड़ती और दूसरे पक्ष मे मुग्धबोध[4] और खोटे (छोटे) तत्रो[5] से नाम के अनुसार हो ज्ञान होता। दूसरे ढग के व्याकरणो का प्रचार बहुत कुछ रहा और है, क्योकि पहले केवल 'पार्षदकृति' थे और जो कुछ उनमे तत्व

मत मे 'अयु'। (या धातु का अनद्यतनभूत प्रथम पुरुष बहुवचन ३।४।१११, ११२) जैन शाकटायन को केवल, 'अयु' ही मानना चाहिए था किंतु वह भी 'वा' लिख गया।

१ एक जैन पोथी मे ही जैनेद्र व्याकरण के 'रात्रे प्रभाचद्रस्य' के प्रभाचद्र को कल्पित बताया है तथा हेमचद्र के द्वयाश्रय काव्य के टीकाकार ने सिद्धसेन को। (बेलवलकर, पृ० ६६)।

२ छान्दसा स्वल्पमतय शास्त्रांतररताश्च ये।
ईश्वरा व्याधिनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये॥
वणिक् सस्यादिससक्ता लोकयात्रादिषु स्थिता।
तेषा क्षिप्र प्रबोधार्थम् (कातत्र की टीका व्याख्यानप्रक्रिया)

३ नरहरिकृत बालावबोध—दशभिर्दिवसैर्वैयाकरणो भवति। इन टिप्पणियो मे कई जगह डाक्टर बेलवलकर के उत्तम निबध 'सिस्टम्स आफ सस्कृत ग्रामर' की सहायता ली गई है।

४ वोपदेव का।

५. का-तत्र।

था वह पाणिनि के टीकाकारों ने या तो उदारता से ने दिया या [illegible] खींच खाँचकर अपने यहाँ ही बता दिया[1] ।

हेमचंद्र

इस लेख का उद्देश्य संस्कृत व्याकरण का इतिहास लिखना नहीं [illegible] । ऊपर का कुछ विस्तृत, किंतु अपनी समझ में रोचक वर्णन, हेमचंद्र [illegible] व्याकरण की पूर्व पीठिका समझाने के लिये दिया गया है। हेमचंद्र का व्याकरण सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन या सिद्धहैम कहलाता है, [illegible] जयसिंह के लिये बनाया इसलिये सिद्ध और हेमचंद्र का होने से हैम । [illegible] भी चार चार पादों के आठ अध्याय हैं जिनमें लगभग ४५०० सूत्र [illegible] । ढंग कौमुदियों का सा है, अर्थात् विषयविभाग से सूत्रों का क्रम [illegible] । साथ में अपनी बनाई टीका बृहद्वृत्ति भी है। हेमचंद्र का उद्देश [illegible] रीति पर अपने संप्रदाय, अपने आश्रयदायक राजा तथा अपने गोत्र के लिये ऐसा व्याकरण बनाने का था जिसमें कोई बात न [illegible] । वह जैन शाकटायन के पीछे लीक लीक चला है। किंतु और सीला बीननेवालों की तरह वह सीला बीननेवाला न था। उसने [illegible] व्याकरण सात अध्यायों में लिखकर आठवाँ केवल प्राकृत के पूर्ण [illegible] को दिया है। पाणिनि ने अपने पीछे देखकर, वैदिक साहित्य का [illegible] 'अपने समय तक की भाषा' का व्याकरण बनाया। पीछे वेद छूट गया । स्वर छूट गया। हेमचंद्र ने पीछे न देखा तो आगे देखा उधर [illegible] इधर बढ़ा लिया 'अपने समय तक की भाषा का विवेचन [illegible]' । यही हेमचंद्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरण [illegible] केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी [illegible] बदलकर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा [illegible] देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया। [illegible] व्याकरण अर्थात आठवें अध्याय का [illegible] है ।[2] संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण [illegible] उदाहरणों की तरह प्राय वाक्य या पद ही दिए [illegible]

---

१ देखो ऊपर पृ० ३८०, टि० १, २ ।

२ पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३६ ।

मे उसने पूरी गाथाएँ, पूरे छद और पूरे अवतरण दिए हैं। यह हेमचद्र का दूसरा महत्व है। यों उसने एक वडे भारी साहित्य के नमूने जीवित रक्खे जो उसके ऐमा न करने से नष्ट हो जाते। इसका कारण क्या है? जैसे पहले कहा गया है[1] जिन श्वेतावर जैन साधुओ के लिये, या सर्वसाधारण के लिये, उसने व्याकरण लिखा वे मस्कृत प्राकृत के नियमो की, उनके सूत्रो की सगति को पदो या वाक्यखडो मे समझ लेते। उसके दिए उदाहरणो से न समझते तो संस्कृत और किताबी प्राकृत का वाड्मय उनके सामने था, नए उदाहरण ढूँढ लेते। किंतु अपभ्रश के नियम यो समझ मे न आते। मध्यम पुरुष के लिये 'पइ', शपथ मे 'थ' की जगह 'ध' होने से सवध, और मक्कडघुग्घि का अनुकरण-प्रयोग विना पूरा उदाहरण दिए समझ मे नहीं आता (देखो आगे ५६, ८८, १४४)। यदि हेमचद्र पूरे उदाहरण न देना तो पढनेवाले जिनकी सस्कृत और प्राकृत आकर-ग्रथो तक तो पहुँच थी किंतु जो 'भापा' साहित्य से स्वभावत. नाक चढाते थे उसके नियमो को न समझते।

इन सव उदाहरणो का सग्रह और व्याख्यान इस लेख के उदाहरणाश के द्वितीय भाग मे किया जाता है। ये उदाहरण अपभ्रश कहे जायँ किंतु उस समय की पुरानी हिंदी ही हैं, वर्तमान हिंदी साहित्य से उनका परपरागत सवध वाक्य और अर्थ से स्थान स्थान पर स्पष्ट होगा, स्मरण रहे कि ये उदाहरण हेमचद्र के अपने वनाए हुए नहीं है, कुछ वाक्यो को छोडकर सव उससे प्राचीन साहित्य के हैं। इनसे उस समय के पुराने हिंदी साहित्य के विस्तार का पता लगता है। यदि सस्कृत साहित्य विलकुल न रहता तो पतजलि के महाभाष्य मे जो वेद और श्लोकों के खड उद्धृत हैं उन्ही से सस्कृत साहित्य का अनुमान करना पडता। वही काम इन दोहो से होता है। हेमचद्र ने वडी उदारता की कि ये पूरे अवतरण दे दिए। इनमे शृगार, वीरता, किसी रामायण का अश [जेवडु अतरु० (१०१), दहमुहु भुवण० (५)], कृष्णकथा [हरिनच्चाविउ पगणहि (१२२), एकमेक्कउँ जइवि जोएदि० (१२९)], किसी और महाभारत का अश [इत्तिउँ ब्रोप्पिणु सउणि० (७८)], वामनावतार कथा [मइ भणिअउ वलिराय (९६)], हिंदू धर्म [गग गमेप्पिणु० (१६६, १६७), व्रास

1 पत्रिका भाग २ पृ० १७।

महारिसि० (९१)], जैनधर्म [जेप्पि चएप्पिणु० (१६५), पेक्खेविणु मुहु जिनवरहो० (१७०)] और हास्य [सोएवा पर वारिआ (१५९)]—इन्ही के नमूने मिलते हैं। मुज (१६२) और ब्रह्म (१०३) कवियो के नाम पाए जाते हैं। कैसा सुदर साहित्य यह सगृहीत है ! कविता की दृष्टि से इतने विशाल सस्कृत और प्राकृत साहित्य मे भी, क्या भल्ला हुआ जु मारिआ (३१), सइ समणेही तो मुइअ (५२), लोण विलिज्जइ पाणिएण (११५), अज्जवि नाहु महुज्जि घरि (१४४), आदि के जोड़ की कविता मिल सकती है ?

तीसरा महत्व हेमचद्र का यह है कि वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजिदीक्षित होने के साथ साथ उसका भट्टि भी है। उसने अपने सस्कृत प्राकृत द्वयाश्रय काव्य मे अपने व्याकरण के उदाहरण भी दिए हैं तथा सिद्धराज जयसिह और कुमारपाल का इतिहास भी लिखा है। भट्टि और भट्ट भौमक की तरह वह अपने सूत्रो के क्रम से चलता है। सस्कृत द्वयाश्रय काव्य के बीस सर्ग है। इसमे सिद्धराज जयसिह तक गुजरात के चालुक्य राजाओ के वश वैभव आदि का वर्णन और साथ ही साथ हैमचद्र के (सस्कृत) शब्दानुशासन के सात अध्यायो के उदाहरण हैं। आठवे अध्याय (प्राकृत व्याकरण) के उदाहरणो के लिये प्राकृत द्वयाश्रय काव्य (कुमारपालचरित) की रचना हुई है जिसमे आठ सर्ग हैं। सस्कृत द्वयाश्रय की टीका अभयतिलकगणि ने तथा प्राकृत द्वयाश्रय की टीका पूर्णकलशगणि ने लिखी है, सवत् १३०७ फाल्गुन शुक्ल ११ पुष्य रविवार को पूर्ण हुई। कुमारपाल चरित या प्राकृत द्वयाश्रय काव्य के आरभ मे अणहिलपुरपाटन का वर्णन है। राजा कुमारपाल है। महाराष्ट्र देशीय बदी उसकी कीर्ति बखानता है। राजा की दिनचर्या, दरबार, मल्लश्रम, कुजरयात्रा, जिनमदिरयात्रा, जिनपूजा आदि के वर्णन मे दो सर्ग पूरे हुए। तीसरे मे उपवन का वर्णन है। वसत की शोभा है। चौथे मे ग्रीष्म और पाँचवें मे अन्य ऋतुओ के विहार आदि का मनोहर वर्णन है। राजा और प्रजा की समृद्धि तथा विलासो का चित्र कवियो की रीति पर दिया गया है। छठे मे चद्रोदय का वर्णन है। राजा दरबार मे बैठा है। साधिविग्रहिक ने विज्ञप्ति की जिसमे कुकुण के राजा मल्लिकार्जुन की सेना से कुमारपाल की सेना के युद्ध और विजय का तथा मल्लिकार्जुन के मारे जाने का वर्णन है। आगे कहा है कि यो कुमारपाल दक्षिण का स्वामी हो गया। पश्चिम का स्वामी सिंधुपति, यवनदेश, उच्च [? उच्छ]

काशी, मगध, गौड, कान्यकुब्ज, दशार्ण, चेदि, रेवातट, मथुरा, जगल देश के राजाओ की अधीनता का भी वर्णन है। कुमारपाल सो जाता है। सातवें सर्ग के आरभ मे राजा उठकर परमार्थ चिता करता है। उसमे काम, स्त्री आदि की निंदा, जैन आचार्यों की स्तुति, नमस्कार आदि के पीछे श्रुतिदेवी की स्तुति है। श्रुतदेवी कुमारपाल के सामने प्रकट हुई और राजा के साथ उसका धर्मविषयक सभाषण चला। आठवे सर्ग भर मे श्रुतदेवी का उपदेश है।

हेमचद्र के प्राकृत व्याकरण (सिद्धहैम शब्दानुशासन के आठवे अध्याय) और कुमारपालचरित का सबध नीचे एक तालिका से बताया जाता है—

लक्ष्य	लक्षण	उदाहरण
	अष्टमाध्याय	
प्राकृत भाषा	पाद १ सू० १–२७१	कुमारपाल चरित
	पाद २ सू० १–२१८	सर्ग १,२,३,४,५,६,
	पाद ३ सू० १–१८२	७, गाथा—१-९३
	पाद ४ सू० १-२५९	
	अष्टमाध्याय	कुमारपालचरित
शौरसेनी	पाद ४ सू० २६०–२८६	सर्ग ७ गाथा ९०–१०२
मागधी	,, २८७–३०२	सर्ग ८ गाथा १–७
पैशाची	,, ३२०–३२४	,, ,, ८–११
चूलिका पैशाची	,, ३२५–३२८	,, ,, १२–१३
अपभ्रश	,, ३२९–४४८	,, ,, १४–८२

इससे स्पष्ट होगा कि जिस भाषा का व्याकरण कहा है उसी मे कुमारपालचरित के उस अश की रचना की गई है। पुरानी हिंदी के व्याकरण के विशेष नियमो के १२० सूत्र है, उदाहरणो मे जो प्राचीन कविता से दिए गए है १७५ अवतरण है, पदों, वाक्यो और दोहराए अवतरणो की गणना नही (कई दोहो के खंड बार बार उदाहरणो की तरह कई सूत्रो पर दिए गए है) किंतु स्वरचित उदाहरणो मे वह सब विषय ६ छदो मे आ गया है। इसका कारण है कि एक एक छद मे कई उदाहरण आ गए हैं।

देशी नाममाला

हेमचद्र को ऐसी रचना प्रिय थी। उसने देशी नाममाला नामक एक

कोश भी बनाया है जिसमें प्राकृत रचना में आनेवाले देशी शब्दों की गणना है। संस्कृत के और कोषों में विषय विभाग में (स्वर्ग, देव मनुष्य आदि) शब्दों का संग्रह होता है, या अंत के वर्णों (जैसे [illegible]) आदि) के वर्गों से। किंतु यह देशी नाममाला वर्तमान कोशों की तरह अकारादि क्रम से बनी है इसका भी कारण वही है जो व्याकरण में अपभ्रंश की कविता पूरी उद्धृत करने का है। संस्कृत प्राकृत कोशों की तरह देशी कोश को कोई रटता नहीं। जहाँ प्राकृत कविता में देशी पद आ गया वहाँ देखने के लिये इस कोश का उपयोग है। वहाँ अकारादि क्रम से ही काम चल सकता है[1]।
उस क्रम के भीतर भी एकाक्षर, द्व्यक्षर आदि का क्रम है। जिस प्रकार से [illegible] होनेवाले शब्द जहाँ गिने हैं वहीं वैसे नानार्थ शब्द भी गिन दिए हैं। वहीं पर जितने शब्दों का उदाहरण एक गाथा में आ सका उतनों का ठूँसा गया है। रण्णाडिआ (=नारंगी, घूंघट, चादर, कान+ओढ़ी), कठमल्ल (मुर्दे की वैकुंठी), कप्प-रिअ कडतरिअ (=फाड़ा गया), कडभुअ (=गडुआ) इन शब्दों का साथ गूंथ कर एक गाथा बनाने में, जिसमें कुछ अर्थ भी हो, काव्य में सुंदरता लाना कठिन है। हेमचंद्र ने इसपर एक मानिनी खंडिता की उक्ति बनाई है कि हे दाँतों से फाड़े गए अधरवाले, नखों से कटे अंगवाले, मेरी चादर छोड़, उन्हीं गडुए से स्तनोंवाली के पास जा जो वैकुंठी के भी योग्य नहीं है (देशीनाममाला २०)। इस उदाहरण बनाने की कठिनता से उसने नानार्थों की उदाहरण गाथाएँ नहीं बनाईं। यों ही कुमारपालचरित में कई उदाहरण एक एक दोहे में लाए गए हैं किंतु वहाँ श्रुतदेवी का राजा को धर्मविषयक उपदेश एक ही विषय है इसलिये कवि को बहुत कुछ स्वतंत्रता मिल गई है। इन ९९ छंदों में—

वदनक १४—२७, ७७, ८०

दोहा २८—७४, ८१

---

१. पादलिप्ताचार्य आदि विरचित देशी शब्दों के रहते भी इस (देशी-नाममाला) के आरंभ का प्रयोजन 'वर्णक्रम सुन्दर' या 'वर्ण-क्रम सुभग' ... वर्णक्रम से निर्दिष्ट शब्द अर्थ निर्देश में [illegible] होने पर सुख से स्मरण और ध्यान किए जा सकते हैं। वर्णक्रम को उलाँघ कर कहने से सुख से अवधारण नहीं किए जा सकते, इसलिये वर्णक्रम-निर्देश अर्थवान् है। (हेमचंद्र, देशी नाममाला, दूसरी गाथा की टीका)।

मात्रा ७५, ७८
वस्तु, वदनक, कर्पूर (उल्लाला ?) का योग ७६
सुमनोरमा ८२

ये छद आए हैं। इनमे से नमूने की तरह कुछ इस लेख के उदाहरण भाग पूर्वार्द्ध मे दिए गए है। पुराने अपभ्रश के उदाहरणो से ये कुछ क्लिष्ट हैं जिसका कारण ऊपर तथा पहले बताया जा चुका है[1] और स्पष्ट है।

यह तो हेमचद्र की रचित पुरानी हिंदी है। कुमारपाल चरित कुमारपाल के राज्य मे बना। कुमारपाल की राजगद्दी स० ११६६ और मृत्यु स० १२३० मे हुई। हेमचद्र की मृत्यु स० १२२६ मे हुई। शिलारा मल्लिकार्जुन से युद्ध स० १२१७–१८ मे हुआ मानना चाहिए[2]। अतएव कुमारपाल चरित (द्वयाश्रय काव्य) और उसके अतर्गत इस अपभ्रश (पुरानी हिंदी) कविता का रचनाकाल वि० स० १२१८ से वि० स० १२२६ तक किसी समय है। हेमचद्र का व्याकरण सिद्धराज जयसिह की आज्ञा से उसी के राजत्वकाल मे अर्थात् स० ११६६ से पूर्व बना। व्याकरण की बृहद्वृत्ति और उसका उदाहरण सग्रह सूत्रो के साथ ही बने होगे। इसलिये द्वितीय भाग मे उद्धृत कविता के प्रचलित होने का समय स० ११६६ से पूर्व है। यह बार बार कहने की आवश्यकता नही कि यह उसकी उपलब्धि का निम्नतम समय है, ऊर्द्धतम समय मुज के नामाकित दोहे से लेना चाहिए। अर्थात् यह कविता स० १०२९ से ११६६ तक लगभग दो शताब्दियों की है[3]।

जब हेमचद्र के उदाहरणो की व्याख्या लगभग लिखी जा चुकी थी तब दोधक वृत्ति नामक ग्रथ उपलब्ध हुआ। इसे सन् १९१६ ई० मे अहमदाबाद मे श्रावक भगवानदास हर्षचद ने छपवाया था। इसमे रचयिता का नाम नही दिया किंतु अत मे यह लेख मिलता है—

---

१. पत्रिका भाग २, पृ० १३२।
२. सिद्धराज जयसिह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का नाना था तथा सोमेश्वर की पालना कुमारपाल ने की थी। मल्लिकार्जुन की लड़ाई पृ० ४००–१। अब मिलाओ भाग २, ५८-५९ पृ० ६१ की सारणी।
२. ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ४००—४०१।

इति श्री हैमव्याकरण प्राकृतवृत्तिगत दोधकार्थ समाप्त लिखितो महोपाध्या-य''' य सं० १६७२ वर्षे शके १५३८ प्र० [वर्तमाने] वैशाख वदि १४ ... । इसमे इन सब उदाहरणो की सस्कृत व्याख्या है । अत मे एक मागधी गद्य ... और एक महाराष्ट्री प्राकृत गाथा की भी लगे हाथो 'दोधक' मानकर व्याख्या कर दी है । जहाँ -जहाँ इस व्याख्या का उपयोग किया जा सका, किया है । हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के पठन पाठन का प्रचार जैन साधुओ मे रहा इसलिये इन कवि-ताओ का परपरागत या साम्प्रदायिक अर्थ जानने मे दोधकवृत्ति ने कहीं-कहीं बहुत सहायता दी है । जहाँ मतभेद है वहाँ दिखा दिया है । दोधकवृत्ति की रचना जैन संस्कृत मे हुई है, उसमे जो भाषानुग सस्कृत पद आए हैं उनकी तालिका यहाँ दी जाती है--

चटित.--चढा (हुआ),चटति---चढ़ता है, चटाम --हम चढें, (चडिअउ, चडिओ ।)

लगित्वा---लगाकर (लाइ), लगकर (लग्गि) ।

वलि क्रिये---वल जाती हूँ (वलि किज्जउँ) ।

अगंल--- आगे बढकर (एत्तिर अग्गलउँ) ।

स्फेटयति (फेडइ) घेरै, नष्ट करे ।

किं न सृतम्---क्या नही सरा ? सब कुछ सिद्ध हुआ ।

मुत्कलेन--- दान, उदारता से (मोक्कलडेन) ।

उद्वरित--- (छपा है, उद्धरित)- उवरा, वचा (उव्वरिअ) ।

उद्वर्त्यंते---ऊवरैं त्यज्यते (उव्वारिज्जइ) ।

चूटक: ---चूडा (चूडुल्लउ) ।

छन्नं---गुप्त [मारवाडी छानै, देखो पत्रिका भाग २, पृ० ५४ मे (२७)] ।

विध्यापयति---वुझाता है ।

आवर्तते---शोपयति ! (आवट्टइ = औटना है, औटाता है) ।

जगटकानि---झगडे ।

धाटी---धाडा ।

द्रहे---दह मे (ह्रद का व्यत्यय) ।

कलहापित: = कलहित (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ५०७) ।

तीगोद्वान = आर्द्रशुष्क -- गीला सूखा (निनुव्वाण) ।

विछोटय---विछोड़कर (देखो पत्रिका, भाग २, पृ० २६) ।

स्ताघ—थाह।

मोटयन्ति—मोड़ते हैं (मोडति)।

उदाहरणाश मे अक्षरनिवेश वही रक्खा गया है जो श्रीशकर पाडुरग पडित ने अपने कुमारपालचरित के सस्करण मे कई प्रतियो की सहायता से रक्खा है। पाठातर वहुत कम दिए गए हैं—उनके कारण मुखानुसारी लेखन, असावधानता, उ ओ, ऊ ओ, स्थ स्छ आदि के लेख की समानता, परसवर्ण की अनित्यता अइ, ए, अउ, ओ का विकल्प अनुनासिक की असावधानता और अत के उ की उपेक्षा आदि हैं।[1] ए ओ के अर्द्ध उच्चारण को ध्यान मे रखने तथा अ से 'इ उ' को मिलाकर ए, ओ पढने से छद ठीक पढे जा सकते है तथा हिंदी कविता से वेगाने नही जान पडते।

हेमचद्र का जीवनचरित तथा काम

हेमचद्र के जीवनचरित का कुछ आभास पत्रिका भाग २, पृ० १२५ मे दिया जा चुका है। उसका जन्म स० ११४५ मे दीक्षा स० ११५४ मे, सूरिपद स० ११६६ मे और मृत्यु स० १२२९ मे हुए। उसका जन्मनाम चंगदेव था, दीक्षा पर सोमचंद्र और सूरि होने पर हेमचद्र हुआ। सिद्धराज जयसिह के यहाँ उसने वहुत प्रतिष्ठा पाई। सिद्धराज स्वय शैव था किंतु सब धर्मों का आदर करता था। सिद्धराज के लिये ही हेमचंद्र ने अपना व्याकरण बनाया जिसकी चर्चा की जा रही है। हेमचद्र के प्रभाव से सिद्धराज का मन जैनधर्म की ओर झुका हो किंतु उसके पीछे कुमारपाल के राजा होने पर तो हेमचंद्र ही हेमचद्र हो गए। हेमचद्र कलिकालसर्वज्ञ हुए और कुमारपाल परमार्हत। कुमारपाल के राज्य के प्रथम पंद्रह वर्ष युद्ध विजय आदि मे वीते। हेमचद्र ने पहले ही कुमारपाल के राजा होने की भविष्यवाणी कर दी थी और सिद्धराज के द्वेष की संकटावस्था मे उसकी सहायता भी की थी। अब उसे जिनधर्मोपदेश करके उससे खूब धर्म प्रचार कराया। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के मत्री यश पाल ने मोहपराजय नामक नाटक प्रबोधचद्रोदय के ढग का लिखा है। उसमे वर्णन है कि धर्म और विरति की पुत्री कृपा से कुमारपाल का विवाह स० १२१६ की मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीया को हेमचद्र ने कराया जिससे मोह को हराकर धर्म को अपना राज्य फिर दिलाया गया। रूपक को निकाल दें तो यह तिथि कुमारपाल के जैनधर्म स्वीकार करने की है। हेमचंद्र के उपदेश से सदाचार प्रचार, दुराचारत्याग, मदिररचना-पूजाविस्तार, जीर्णोद्धार, अमारिघोषण, तीर्थ-

[1] पत्रिका भाग २, पृ० ३२–३३।

यात्रा आदि बहुत धूमधाम से कुमारपाल ने किए और कराए। जैन साहित्य में इन गुरुशिष्यों का बहुत प्रशंसापूर्ण उल्लेख है। राजा ने २१ ज्ञानकोश (पुस्तक भंडार) कराए। छत्तीस हजार श्लोकों का त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र हेमचंद्र से बनवाकर सोने रूपे से लिखाकर सुना। एकादश अंग, द्वादश उपांग सोने में लिखवाकर सुने। योगशास्त्र आदि लिखवाए। गुरु के ग्रंथों को लिखनेवाले ७०० लेखक थे। एक दिन लेखकशाला मे जाकर राजा ने लेखकों को 'कागदों' पर लिखते देखा। गुरु ने कहा श्रीताल पत्रों का टोटा आ गया। राजा को लज्जा आई। उपवास किया। खरताडो (भद्दे ताड जिनके पत्ते लिखने के काम के नहीं) की पूजा करके प्रार्थना की, तो वे सवेरे श्रीताड हो गए। फिर ग्रंथ लिखे जाने लगे[१]। हेमचंद्र ने कई लक्ष श्लोकों के ग्रंथ बनाए जिनमे प्रधान ये है—अभिधानचिंतामणि आदि कई कोश, काव्यानुशासन, छंदोनुशासन, देशीनाममाला, द्वयाश्रय काव्य (संस्कृत तथा प्राकृत) योगशास्त्र, धातुपारायण, त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र, परिशिष्ट पर्व, शब्दानुशासन (व्याकरण)। उसने अपने रचे ग्रंथों की प्रायः वृत्तियाँ भी बनाई है। ८४ वर्ष की अवस्था मे अनशन से हेमचंद्र ने प्राणत्याग किया। कुमारपाल भी लगभग छ मास पीछे मर गया।

सिद्धहैमव्याकरण की रचना[२]

पहले कभी हेमचंद्र 'परब्रह्ममयपरमपुरुष प्रणीतमातृकाअष्टादशलिपिविन्यासप्रकटनप्रवीण' ब्राह्मी आदि मूर्तियों को देखने कश्मीर चले थे तो भगवती ने उनका मार्गक्लेश बचाने के लिये मार्ग ही मे आकर दर्शन तथा विद्यादान दिए थे। सिद्धराज जयसिंह के यहाँ उनका पांडित्य देखकर कई असहिष्णु (ब्राह्मणों) ने कहा कि हमारे शास्त्र (पाणिनीय व्याकरण) के पढने से इनको यह विद्या है। सिद्धराज के पूछने पर हेमचंद्र ने कहा कि महावीर जिन ने शिशु अवस्था में जो इंद्र के सामने उपदेश दिया था वह जैनेंद्र व्याकरण ही हम पढते है।[३] राजा ने कहा कि पुराने को छोडकर किसी समीप के कर्ता का नाम लो। कहा कि सिद्धराज सहायक हो तो नया पंचांग व्याकरण बनवावे। राजा के स्वीकार करने पर हेमचंद्र ने कहा कि काश्मीर मे प्रवरपुर[४] मे भारतीकोश मे पुरातन आठ

---

१ जिनमंडन का कुमारपालप्रबंध पृ० ९६–९७।

२. जिनमंडन के कुमारपालप्रबंध से, पृष्ठ १२ (२), १६ (२) प्रभृति।

३. देखो ऊपर, पृ० १२५, टि० २

४ बिल्हण कवि की जन्मभूमि।

व्याकरणो की प्रति है, मँगा दीजिए। प्रधानो ने जाकर भारती की स्तुति की तो भारती ने कहा हेमचद्र मेरी ही मूर्ति है, प्रतियाँ दे दो। प्रतियाँ आई। वहुत देशों से अट्ठारह व्याकरण लाए गए। गुरु (हेमचद्र) ने वर्ष भर मे सवा लाख ग्रथ का व्याकरण वनाकर राजा के हाथी पर धर, चँवर डुलाते हुए राजसभा मे ला पधराया और सुनाया। अमर्षी ब्राह्मणो ने कहा कि बिना शुद्धाशुद्ध परीक्षा के राजा के सरस्वती कोश मे रखने योग्य नही। कश्मीर मे चद्रकात मणि की बनी हुई ब्राह्मी की मूर्ति है, उसके समक्ष जलकुड मे पुस्तक फेंकी जाती है। यदि बिना भीगें निकल आवे तो शुद्ध जानो, अन्यथा नही।[१] राजा ने सशयाकुल होकर वहाँ भेज दी। पंडितो के सामने दो घडी तक व्याकरण कश्मीर के सरस्वती कुंड मे पडा रहा। अविलन्न निकला। राजा को जव प्रधानो ने यह सुनाया तो

---

१. भास और व्यास के काव्यो की अग्नि परीक्षा के वारे मे देखो ना० प्र० पत्रिका, भा० १, पृ० १००। राजशेखर ने सूक्तिमुक्तावली मे भास के स्वप्नवासवदत्त के न जलने का उल्लेख किया है (दाहकोऽभून्नपावक.) और गौडवहो के कर्ता वाक्पतिराज ने शायद इसी लिये भास को जलणमित्त (ज्वलनमित्र) कहा है। राजशेखरसूरि (जैन) के चतुर्विंशति प्रवंध मे कश्मीर मे सरस्वती के हाथ मे श्रीहर्ष के नैषधचरित्र रखे जाने और सरस्वती के उस काव्य मे अपने ऊपर किए व्यक्तिगत आक्रमण से चिढ़कर उसे फेंक देने का उल्लेख है। श्रीहर्ष चिढकर कहता है है कि 'कुपितै कि छुटयते कलकात्?' मेरे पास 'गन्धोत्तमानिर्णय' नामक एक खडित पोथी है जिसमे शाक्त पूजा मे मद्य के उपयोग के विधान का निर्णय है। उसमे लिखा है कि भागवत की कई टीकाएँ पानी मे डाल दी थी किंतु श्रीधरस्वामी की टीका विना गले निकली। यो ही माघ काव्य भी। गन्धोत्तमानिर्णयकार तो इस-लिये इन कथाओ को लाया है कि श्रीधर स्वमी की टीका मे 'लोके व्यवाया-मिषमद्य०—' श्लोक की व्याख्या तथा माघकाव्य मे वलदेव के वर्णन मे 'घूर्णयन् मदिरास्वाद०—'श्लोक उसके पक्ष मे काम देता है। किंतु पानी मे डालकर शास्त्रपरीक्षा के सप्रदाय की कथा होने से यहाँ लिख दी गई।

३०० लेखकों से तीन वर्ष तक प्रतियाँ[1] लिखाकर अट्ठारह देशों में[2] पठन-पाठन के लिए भेजी।

हेमचद्र और देशी

युव (न्) (=जवान) के तारतम्यवाचक रूप यवीयस् यविष्ठ और अल्प के अल्पीयस् और अल्पिष्ठ होते है। उन्ही अर्थों मे कनीयस् और कनिष्ठ भी होते है। पाणिनि का इस बात के कहने का ढंग यह है कि युव और अल्प की जगह विकल्प मे कन् हो जाता है।[3] इसका ऐतिहासिक अर्थ यह है कि पाणिनि के समय मे अकेला कन् छोटे के अर्थ मे नहीं आता था, केवल इसके तारतम्यवाचक रूप आते थे। वैयाकरणों की कहने की बात है कि पाणिनि के सूत्र से अल्पीयस् और यवीयस् की जगह कनीयस्, और अल्पिष्ठ और यविष्ठ की जगह कनिष्ठ हो जाता है। यह कुछ नहीं होता, व्याकरण के सूत्र कोई नई चीज नही बना सकते। वे जो है उसी को नियम मे रख देते हैं। 'अमुक सूत्र से ऐसा हुआ' इसकी जगह वैज्ञानिक रीति से यही कहना चाहिए कि 'ऐसा भाषा मे होता है, उसका उल्लेख अमुक सूत्र मे कर दिया है'। कन् का जिसका अर्थ छोटा है, अकेले विशेषण की तरह उस समय सस्कृत मे व्यवहृत होना छूट गया हो। 'कन्या' मे वह मौजूद है। कन्या का पुत्र 'कानीन' बनाने के लिये पाणिनि ने कन्या की जगह 'कनीन' मानकर प्रत्यय लगाया है[4]। वह काम कन् से प्रत्यय लगाकर भी हो सकता था, यदि 'कन्' की सत्ता पाणिनि मानता। नेपाली कान्-छा (छोटा), हिंदी कन्+अँगुरिया, नारगी की कनी' फांक आदि मे वह कन् चलता आया है। यो ही जहाँ पाणिनि ने 'ब्रू' के कुछ रूपो की

---

१ कई सस्कृताभिमानी मातृका, कोष या प्रतिकृति की जगह प्रति लिखने के लिये म० म० सुधाकर द्विवेदी की हँसी किया करते हैं किन्तु जैन या देशभाषानुगामी सस्कृत मे यह शब्द स० १४९२ मे मिलता है। जिन-मडन ने प्रतय, प्रती, कई बार लिखा है।

२ अट्ठारह देश—कर्नाट, गुर्जर, लाट, सौराष्ट्र, कच्छ, सिंधु, उच्च, भंभेरी मरु, मालव, कौकण, राष्ट्र, कीर, जालधर सपादलक्ष मेवाड, दीप, आभीर [जिनमडन का कुमारपालप्रवध, पत्र ८१ (१)]

३ ५।३।६४।

४ ४।१।११६।

जगह 'आह' का होना, हन् का 'वध्' हो जाना और 'अस्' का 'भू' हो जाना कहा है उसका यही ऐतिहासिक अर्थ है कि 'आह' 'अस्' और 'वध्' धातुओ के पहले पूरे रूप होते होगे, उस समय ये धातु अधूरे रह गए थे, पाणिनि ने उन्हें उसी अर्थ के और धातुओ के रूपो मे मिला दिया। पाणिनि के वैदिक रूपो को विवेचन से यह पता लग जाता है कि किस समय तक कैसे प्रयोग होते थे, कब से क्या बदल हुई। प्राकृत व्याकरणो ने बद्धमूल सस्कृत को प्रकृति मानकर वे बद्धमूल प्राकृत का व्याकरण लिखा है। सस्कृत से क्या क्या परिवर्तन होते है उन्ही को गिना हे, प्राकृत को भाषा मानकर नही चले। चल भी नही सकते थे, उनकी लक्ष्य प्राकृत भी किताबी अर्थात् जड प्राकृत थी। हेमचद्र के प्राकृत व्याकरण के लगभग दो पाद इसी मे चले गए है कि किस सस्कृत शब्द मे किस अक्षर की जगह क्या हो जाता है। यदि पाणिनि की तरह स्थान, प्रयत्न, अतरतम आदि का विचार प्राकृतवाले करते तो सक्षेप भी होता और वैज्ञानिक नियम भी बन जाते। बिना उसके प्राकृत व्याकरण अनियम परिवर्तनो की परिसख्या मात्र हो गया है। हेमचद्र कहता है कि ङसि (पचमी एकवचन, अपादान) की जगह प्राकृत मे त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो आते है, या कोरी सज्ञा बिना प्रत्यय के आती है। बहुवचन मे इनके सिवाय सुन्तो भी आता है[1]। आगे चलकर उसने मध्यम पुरुप उत्तमपुरुप के कई रूप गिनाए है[2]। यह जानना बहुत रोचक और ज्ञानदायक होता कि क्या ये सभी रूप प्राकृत मे एक समय चल गए या समय समय पर आए? इससे प्राकृत की तहें मालूम हो जाती। सबध के अर्थ मे केरअ (स० केरक, हि० केरा) प्रत्यय आता है, हेमचद्र ने उसे अपभ्रश मे आदेश गिना[3] है, प्राकृत मे नही, किंतु वह मृच्छकटिक और शाकुतल की प्राकृत मे कई जगह मिलता है।

प्राकृतो मे जो सस्कृतसम या तत्सम शब्द है वे सस्कृत से जाने जाते है जो सस्कृत-भव या तद्भव है उन्हें लोप, आगम, वर्णविकार आदि से इन वैयाकरणों ने समझाया है। रहे देशी। ये अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है जिन्हें नई पुरानी प्राकृतोवाले व्यवहार करते आए हैं। इनका प्रकृतिप्रत्यय विचार कठिन है। सभव है कि

---

१. ८।३। ८,९।
२. ८।३।९०–११७।
३. ८।४।४२२।

अधिक खोज होने पर इनमें से कई दूसरी तीसरी पीढ़ी तद्भव सिद्ध हो जावें। हेमचंद्र ने देशी का वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया अपनी देशी नाममाला में उसने क्या लिया है, क्या नहीं लिया, इसका उल्लेख वह यों करता है— (१) जो लक्षण ग्रंथ (सिद्धहैमशब्दानुशासन) में प्रकृतिप्रत्यय आदि विभाग से सिद्ध नहीं किए गए वे यहाँ लिए गए हैं, (२) जो धातु वैयाकरणों या कोशकारों ने देशी में गिने हैं किंतु जिन्हें हमने धातुओं के आदेश माना है वे नहीं लिए गए, (३) जो प्रकृतिप्रत्यय विभाग से संस्कृत ही सिद्ध होते हैं किंतु संस्कृत कोशों में प्रसिद्ध नहीं हैं वे यहाँ लिए गए हैं जैसे अमृत-निर्गम = चंद्र, छिन्न-उद्भवा = दूब, महानट = शिव इत्यादि (४) जो संस्कृत के कोशों में नहीं हैं, किंतु गौण लक्षणा या शक्ति से जिनका अर्थ बैठ जाता, जैसे बइल्ल (= बैल) = मूर्ख, वे नहीं लिए गए। फिर वह कहता है कि महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि देशों जो शब्द प्रसिद्ध हैं (जैसे मगा = पीछे, [illegible]) उन्हें गिना जाय तो देशों के अनंत होने पुरुषायुष में भी उनका संग्रह नहीं हो सकता इसलिये 'अनादि प्रसिद्धप्राकृतभाषाविशेष' ही देशी कहा गया है। अपनी पुष्टि में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है कि दिव्ययुगसहस्र में वाचस्पति की बुद्धि भी इसमें समर्थ नहीं हो सकती कि देशों में प्रसिद्ध शब्दों को पूरी तरह चुन सके[1]। इससे स्पष्ट है कि मनमानी की गई है,[2] संस्कृत प्रयोग को प्रमाण न

---

१. देशी नाममाला, गाथा २–३, मिलाओ पतंजलि—'बृहस्पति ने इंद्र को दिव्य वर्षसहस्र शब्दपारायण कराया किंतु अंत न पाया। बृहस्पति सा कहनेवाला, इंद्र पढ़नेवाला, दिव्य वर्षसहस्र अध्ययनकाल, तो भी अंत न पाया। आजकल जो बहुत जीवे वह सौ वर्ष जीवे इत्यादि (प्रथम आह्निक)।

२. वैयाकरणों की मनमानी से पुरानी लिखने की रीति भी नष्ट हो गई। काश्मीर पोथियों के लिखनेवाले 'शोध शोध' कर लिखने लगे इसी से दक्षिण की [illegible] की पुस्तकों में पुराने पाठ मिलते हैं उत्तर की पुस्तकों में वे 'सुधार' दिए गए हैं (वार्नेट, ज० रा० ए० सो०, अक्टोबर, १९०१)। इसी शोध के प्रताप से 'मृगनेत्रासु रात्रिषु' का 'सुगतेतासु रात्रिषु' हो गया था (प्रतिभा, वर्ष ३)। भागवत के दक्षिणी वैष्णव टीकाकारों ने भागवत में जो वैदिक प्रयोग (आर्ष) हैं उन्हें बदलकर वर्तमान संस्कृत कर दिया है, श्रीधरस्वामी ने भागवत को 'शुद्ध' किया किंतु उसकी प्राचीनता का लोप अपने हाथों नहीं किया?

मानकर कोशो को माना है। क्या हुआ जो अमृतनिर्गम और महानट चद्रमा और शिव के अर्थ मे सस्कृत कोशो मे नही दिए? प्रकृतिप्रत्यय विभाग और शक्ति, रुढि आदि से वे सस्कृत ही है। यो (३) और (४) मे परस्नर विरोध आता है।

सस्कृत मे 'अप्रयुक्त' का विचार करते हुए पतजलि ने कहा है कि उपलब्धि मे यत्न करो।' शब्द का प्रयोगविपय वडा है। सात द्वीप की पृथ्वी, तीन लोक, चार वेद, अग और रहस्य सहित, उनके वहुत से भेद, १०० शाखा अध्वर्यु वेद की, सामवेद के १००० मार्ग, २१ तरह का वाह्वृच्य (ऋग्वेद), नौ तरह का अथर्वण वेद, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक, इतना शब्द का प्रयोगविपय है। इतने शब्द के प्रयोगविषय को विना सुने विचारे शब्द अप्रयुक्त हैं, यह कहना साहस मात्र है (पहला आह्निक)। ऐसे ही (१) (२) मे विरोध आता है। धातुओ मे हेमचद्र ने वडा अद्भुत काम किया है। एक धातु प्रधान मान लिया है उसी अर्थ के और धातुओ को उसका आदेश मानकर झगडा तै किया हैं। जैसे, कहइ (कथयति) धातु माना। अव वज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणाइ सघइ, बोल्लइ, चवइ, जपइ, सीसइ, साहइ को विकल्प से, 'कहइ' का आदेश कह दिया है।[1] उव्वुक्कइ को इनमे नही गिना क्योकि उसे उत्+वुक्क से निकला माना है। यों देखा जाय तो वज्जरइ उच्चरति से, पज्जरइ प्रोच्चरति से, फिसुणइ पिशुनयति से, सघई सख्याति से, जपइ जल्पति से, निकल सकता है। फिर हेमचद्र लिखते हैं 'औरो ने इन्हे देशी शब्दो मे पढ़ा है किंतु हमने इन्हें धात्वादेश कर दिया कि विविध प्रत्ययो मे प्रतिष्ठित हो जायँ, ऐसा करने से वज्जरिओ = कथित, वज्जरिऊण = कथयित्वा आदि हजारो रूप सिद्ध हो जाते हैं'। यह तो मनमानी हुई। या तो इन्हें स्वतत्र धातु मानते, या इनमे तद्भव और देशी की छाँट करते। वैयाकरणो के स्वभाव से हेमचद्र कहते है कि हमने इन्हे आदेश इसलिये गिना है कि इनसे प्रत्यय हो सकें, ये विविध प्रत्ययो मे प्रतिष्ठित हो जायँ। पतजलि वैयाकरणो को सावधान कर गए हैं कि 'जैसे' घड़े से काम होने पर लोग कुम्हार के यहाँ जाते है कि हमे घडा वना दे, वैसे शब्द का काम पडने पर कोई वैयाकरण के यहाँ नही जाता कि भाई हमे काम है, शब्द गढ दे[2] 'किंतु वैयाकरण समझते हैं कि विना उनके प्रति-

---

१ ८।४।२।

२. पहला आह्निक।

ष्ठिन किए लोग इन धातुओ से प्रत्यय ही न कर सकेगें । मुर्गा सवेरा होने पर बोलता है किंतु फ्रेंच भाषा के एक नाटक मे एक मुर्गे को यह अभिमान होना बताया गया है कि मैं न बोलूंगा तो सवेरा ही न होगा । अस्तु । यों चौथे पाद मे कई धातुओ के आदेश गिनाए है जिनमे कई तो तद्भव धातु हैं और कुछ देशी । जैसे भ्रम (=घूमना) के अट्ठारह आदेशो मे[1] चक्कम्मई–चङ्क्रम से, भम्मडइ, भमडइ, भमाडइ––भ्रम से ही स्वार्थ मे ड लगाकर, तलअण्टइ––तल + अट से, भुमइ, फुमइ––भ्रम से, परीइ, परइ––परि + इ से, तद्भव माने जा सकते है । टिरिटिल्लइ, ढुण्ढुल्लइ, ढण्ढलइ, झण्टइ, झम्पइ, गुमइ, फुमइ, ढुमइ, ढुसइ रहे, इन्हें देशी धातु मानो या अनकरण आदि से बना समझो । देशी के भाडार ने से सस्कृतवाले 'सस्कृत' करके और प्राकृतवाले यों ही लेते रहें । पहलो ने यह नही कहा कि हमने लिया, वे यही कहते गए कि हमारा ही है, दूसरो ने देशी और तद्भवो की छाँट न की, क्योकि तद्भवो को अपने थोडे से नियमो से ही बँधा माना, व्यत्यय का विचार न किया ।

आगे हम पुरानी हिंदी कविता को और भी पीछे ढूंढने का यत्न करेगें ।

---

१. ८।४।१६१ ।

उदाहरणांश

प्रथम भाग

हेमचंद्र की रचना के नमूने

(१)

गिरिहेंवि आणिउ पाणिउ पिज्जइ,
तरुहेंवि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ।
गिरिहुँव तरुहुँव पडिअउ अच्छइ,
विसयहिं तहवि विराउ न गच्छइ ॥१६॥

[हिंदी-सम = गिरिहुं भि आन्यो पानी पीजै,
तरुहुं भि निपत्यो फल भक्खीजै।
गिरिहुं भि तरुहुं पडियो आछै,
विपयहुँ तदपि विराग न गच्छै ॥]

गिरिहे अपादान, तरुहे-सबध, गिरिहुं, तरुहु-अपादान, पडिअउ-निष्ठा, अच्छइ-आछै, छै, स० आस्ते।

(२)

जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ,
सत्तु वि मित्तु वि किहेंविहु आवहु।
जहिंविहु तहिंविहु मग्गे लीणा,
एक्कएँ दिट्ठिहि दोन्निवि जोअहु ॥२६॥

[हिंदी-सम = जो जहँ होतो सो तहँ होतो,
शत्तु भि मीत भि कोइहि आवो।
जहँ भी तहँ भी मारग-लीना,
एकहि दीठिहिं दोनहि जोहो ॥]

जहाँ होतउ—जहाँ होता हुआ (वर्तमान धातुज) = जहाँ से, लीण—लगे हुए, लीन।

(३)

अम्हे निन्दहु कोवि जणु, अम्हइँ वण्णउ कोवि ।
अम्हे निन्दहुँ कवि नवि, नम्हइ वण्णहुँ कवि ॥३७॥
हिंदी-सम = हमे निन्दो कोई जन, हमे वरनो कोइ ।
हम निन्दें कोई (को) भी नही, न हम वरनै कोइ ॥]

अम्हे-अम्हइ—पहला कर्म, दूसरा कर्ता । क्रिया से कारक का पता चलता है, विभक्ति से नही ।

(४)

रे मण करसि कि आलडी, विसया अच्छहु दूरि ।
करणइँ अच्छह रुन्धिअइँ, कड्ढऊँ सिवफलु भूरि ॥४१॥
रे मन, (तू) करता है, क्यो (किमि), आलडी, हे विषयो! रहो, दूर हे करणो (इद्रियाँ)! रहो रुधे हुए, (मैं) काढूँ, शिवफल (मोक्ष), वहुत ।

आलडी—आल, अनर्थ, ऊलजलूल, मिलाओ—म भखहि आलु (आगे न० ६२), अच्छहु, अच्छह—दे० ऊपर (१), कड्ढउँ—निकालकर अपने वस करूँ

(५)

सजम–लीणहो मोक्खसुहु निच्छइ होसइ तासु ।
पिय वलि कीसु भणन्तिअउ णाइ पहुच्चहि जासु ॥४३॥
सयम–लीन का (को), मोक्षसुख, निश्चय, होगा, उसका (उसको) 'हे पिया, वलि, की जाती हूँ' (ऐसा), कहती हुई, (स्त्रियाँ), नही प्रभुत्व (पाती) है, जिसका (जिसपर) ।

होसइ—होसै (प्रवध न० ३), वलिकीसु—मैं वल जाती हूँ, वलि की जाऊँ, भणान्तिअउ–भणान्तियाँ, पहुच्चहि–प्रभवन्ति (स०) ।

(६)

कउ वढ भमिअइ भवगहणि मुक्ख कहन्तिहु होइ ।
एँहु जाणेवऊ जइ मणसि तो जिण आगम जोइ ॥६१॥

क्यो वढ ! (मूर्ख), भ्रमा जाता है, भागवान मे, मोक्ष, कहाँ ते, होय, यह, जानने को, यदि, मन मे (रखता) है, तो जिनागम, देख ।

जाणेवउँ—जाणेवो, जानवो, मणसि—मन्यसे (स०) ।

(७)

निग्गम-विहूणा रत्तिहिवि खाहि जि कसरक्केहि ।
हुहुरु पडन्ति ति पावँद्रहि भमडहि भवलक्खेहि ।।६८।।

नियमविहीन, रात मे भी, खाँय जो कसरक्को से, हुहुरु करके, पडते हैं, वे पापदह मे, भ्रमते हैं, भव (जन्म)—लक्षो मे ।

कसरक्केंहि—अनुकरण, कसर कसर करते हुए, गडप गडप करते, हुहुरु-पडने या पडने के समय चिल्लाने का अनुकरण, ति—ते, द्रह—दह, ह्रद ।

(८)

सग्गहो केंहिँ करि जीवदय दमु करि मोक्खहोँ रेसि ।
कहि कसु रेंसि तुहुँ अवहि कम्मारम्भ करेसि ।। ७० ।।

स्वर्ग के लिये, कर, जीवदया, दम, कर, मोक्ष के, लिये, कह, किसके, लिये, तू, और कर्मारंभ, करता है !

केहिं, रेंसि, रेंसि, तेंहिं, तणेण, प्रत्यय तादर्थ्य मे होते है (हेमचद्र ८।४।४२५) । इसका अर्थ वही है जो 'सेती' का, किसके सेती ?

(९)

कायकुडुल्ली निरु अथिर जीवियडउ चलु एहु ।
ए जाणिवि भवदोसडा असुहउ भावु चएहु ।।७२।।

कायकुटी, निश्चय, अस्थिर (है), जीवित, चचल, (है) यह, ये, जानकर भव (ससार) दोष, अशुभ, भाव, त्यजो ।

कुडुल्ली, जीवियडउ, दोसडा मे उल्ल, अड, ड स्वार्थिक हैं ।

(१०)

ते धन्ना कन्नुल्लडा हिअउल्ला ति कयत्थ ।
जो खणिखणिवि नवुल्लडअ घुण्टहिँ धरहिँ सुअत्थ ।।७३।।

वे, धन्य (हैं), कान, हृदय, वे कृतार्थ (हैं) जो क्षण क्षण मे नए, सुअर्थों (या श्रुतार्थों) को घूंटते (घूंटो से पीते) है, और धरते हैं ।

कन्नुल्लड, हिअउल्ल, नउल्लडअ—स्वार्थ मे कान और हिय के लिये घुटहिं और धरहिं यथासख्य लगाना ।

(११)

पइठी कन्नि जिणागमहों वत्तडिआवि हु जासु ।
अम्हारउं तुम्हारहुं वि एहु ममत्तु न तासु ॥७४॥

[हिंदी-सम = पैठी कान जिनागम (की) बातडी भी जासु । हमारो तुम्हारो यह ममत्व न तासु ।]

वत्तडिआ—बात, देखो रत्तडी (आगे न० २)

इन उदाहरणो मे व्याख्यान या व्याकरण का विस्तार नही किया गया है। आगे दूसरे भाग मे जहाँ इनसे मिलते हुए दोहे या पद आए हैं वहाँ देखना चाहिए। अपने व्याकरण के सूत्रो को पहले प्राचीन उदाहरणो से समझाकर हेमचद्र ने ये नये उदाहरणो के सग्रहश्लोक बनाए हैं जिनमे वे ही या इनसे मिलते हुए उदाहरण विषय के अनुसार यथास्थान जमाकर रखे हैं ।

द्वितीय भाग

(१)

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
णाइ सुवण्ण-रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥

ढोला तो साँवला है नायिका चपक के वर्ण की है, मानो सुवर्ण की रेखा कसौटी पर दी हुई हो ।

ढोल्ला—स० दुर्लभ, नायक, मारवाडी गीतो मे ढोला वडा प्रेम का शब्द है, 'गोरी छाई छै रूप ढोला धीराँ धीराँ आव'। धण-गृह की स्वामिनी' बीकानेर की ओर अब भी स्त्री को धन कहते है। 'थाँने आय पुजास्या गणगोर सुदर धण जावा द्यो जी' (मारवाड़ी गीत)। णाई-नाई, स० ज्ञा धातु से, जाना जाता है। रेह-रेख। कस-वट्ट-स० कषपट्ट, कसवट्टी, कसौटी। दिण्णी—दीनी।

इसी भाव का एक दोहा कुमारपाल प्रतिबोध में से दिया जा चुका है (पत्रिका भाग२, पृ० १४५) दोधकवृत्ति के कर्त्ता ने वृथा ही व्यग्य को खोलकर इस चित्र का आनद विगाड दिया है कि 'विपरीतरतौ एव एतत् उपमान सभाव्यते।'

(२)

ढोल्ला मइ तुहु वारिया (यो) मा कुरु दीहा माण ।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥

ढोला! मैने, तूं वारा (=निवारण किया) है, मत, कर, दीर्घ, मान, नीद से, जायगी, रात, झटपट, होता है, विहान (=सवेरा) नायिका नायक को मनाती है।

यह दोहा वररुचि के प्राकृतप्रकाश की प्रति मे पहुँच गया है जिससे तथा प्राकृत व्याकरणकार वररुचि तथा वार्तिककार कात्यायन को एक समझने से एक विद्वान् भ्रम से इस कविता को बहुत पुरानी मान बैठे है। पुरानी पोथियो से जिन्हें काम पडा है वे जानते हैं कि पढते समय उदाहरण टिप्पणी आदि पत्रे की आयु पर लिख लिए जाते है और उस पोथी से प्रति उतारनेवाला उन्हें मूल में

घुसेड देता है। विद्वान् ने यह नही देखा कि यह दोहा और इसका सूत्र एक ही प्रति मे हैं, उसने छपी पुस्तक को आदि से अत तक वररुचि की ज्यो की त्यो कृति मान लिया। व्याकरण के ग्रथ विचार, समय, उदाहरण और टिप्पणियो से यो ही बढ जाते हैं। इस विषय को अधिक बढाना व्यर्थ है। सस्कृत व्याकरण के वार्तिककार वररुचि कात्यायन, पाली व्याकरण का कच्चायन, और प्राकृत प्रकाश का वररुचि तीनो एक कभी नही हैं।

(३)

विट्टीए मइ भणिय तुहुँ मा कुरु वङ्की दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पविट्ठि॥

विटिया! मैंने, भणी-(=कही गई) तू, मत, कर, वाँकी, दीठ, पुत्रि! सकर्णी (=कानवाली, नुकीली) भल्ली (छोटा भाला), जिम, मारै, हिये मे, पैठी (वह)। वृद्धा कुट्टिनी नायिका को समझाती है। विट्टीए—सबोधन का ए, पविट्ठि—प्रविष्टा, स० प्रविष्टी*, हि-पैठी।

(४)

एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग।
एत्थु मुणीसम जाणीअइ जो नवि वालइ वग्ग॥

ये ही, वे, घोडे (है), यही, स्थली (है), ये ही, वे, निशित (=पैने), खड्ग (हैं), यहाँ मनुष्यत्व, जाना जाता है, जो, नही भी, फिरावे, (घोडो की) वाग। ये घोडे हो, यही रणस्थल हो और ये ही धारदार तलवार हो, वहाँ जो घोडे की वाग मोडकर भाग न जाय, सामने डटे, तो यहाँ मनुष्यत्व (मरदानगी) जाना जाय। मुणीसम—सस्कृत मे कुछ ही स्थलो मे 'इम' लगकर पुल्लिग भाववाचक वनता है, प्राकृत मे सब जगह। नवि—न+अपि। वालइ-वल् (घूमना) का प्रेरणार्थक। राजपूताने मे यह दोहा प्रचलित है, ठाकुर भूरसिह जी शेखावत के विविध सग्रह मे उद्धृत है। देखो, ना० प्र० पत्रिका भाग २, पृ० १६, टि० ५।

(५)

दहमुहु भुवण-भयकरु तोसिअसकरु णिग्गउ रह-वरि चडिअउ।
चउमुहु छमुहु झाइवि एक्कहि लाइवि णावइ दइवे घडिअउ॥

यह किसी पुरानी रामायण से है। दशमुख (=रावण), भुवन-भयं-कर, तोपितशकर, निर्गत (=निकला), रथवर पर, चढा हुआ, चौमुख (=ब्रह्मा) को, छह मुख (=कार्तिकेय) को, ध्यान करके, एक मे, लाकर, मानो दैव, ने घड़ा (था वह)। ब्रह्मा के चार और स्वामिकार्तिक के छह, यो दस मुँह मानो दैव ने एक मे मिलाकर उसे बनाया था। णिग्गउ, चडियउ, घडियउ-निगयो, चढियो, घडियो। झाइवि, लाइवि—ध्या (न) कर, लाकर। णावइ, मानो, (स० ज्ञायते) मिलाओ नाइ, नाउं, मारवाड़ी न्यूं, उपमा मे नावइ, नावें उत्प्रेक्षा मे और वैदिक उपमावाचक।

(६)

अगलिअ- नेह- निवट्टाह जोअण-लक्खुवि जाउ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ॥

न गले हुए नेह से निवटे हुओ का (=को), योजन लाख भी जाकर, सौ वर्ष से, भी, जो, मिलता है, हे सही (सखी), सौख्य का, वह, ठाँव (है)। सच्चा प्रेम देश और काल के बंधन नही मानता। जो अग-लित स्नेह मे पगे हैं उन्हें लाख योजन चलकर सौ वर्ष में भी जो (नायक या नायिका) मिले तो सौस्य का वही स्थान है। जाउ-पूर्वकालिक।

(७)

अङ्गहि अङ्ग न मिलिअउ हलि अहरें अहरु न पत्तु।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु

अंग से, अग, न, मिला, हाल, अधर ने, अधर, न प्राप्त (किया), पिया का, जोहती (हुई) का, मुख कमल, यो ही, सुरत, समाप्त (हुआ)। यहाँ पर 'पिय जोअन्तिहे मुहकमलु' का अर्थ 'पिय का मुखकमल जोहती हुई का' किया गया है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि पिय को देखती हुई का मुख कमल यो ही सुरा (मद) से समत्त (मस्त) हो गया। पहले मे 'पिअ'- का दूर के 'मुहकमलु' से सबधकारक मानकर 'मुहकमलु' को 'जोअन्तिहें' का कर्म माना है, दूसरे मे 'पिअ' को 'जोहन्तिहे' का कर्म और मुहकमलु को कर्ता। दोधकवृत्ति के कर्ता ने पहला अर्थ माना है किंतु इस विशुद्ध Platonic प्रेम के चित्र को कहकर वीभत्स कर दिया है कि अतिरसाति-रेकात् सभोगात् पूर्वमेव द्राव इति भाव:। इसके विना कौन सा अर्थ नही लता था? एम्वइ-पजावी एवें, योंही।

(८)

जे महु दिण्णा दिअहडा दइए पवसन्तेण।
ताण गणन्तिय अगुलिउ जज्जरियाउ नहेण ॥

जो, मुझे, दीन्हें, दिवस, दयित ने, प्रवसते (प्रवास पर जाते हुए) ने; तिन्हें, गिनती (हुई) की, अगलियाँ, जर्जरित (हो गईं), नख से। पति ने प्रवास पर जाते समय बता दिया था कि इतने दिनो मे लौटूंगा। वह समय बीत जाने पर, यह देखने के लिये कि मेरे गिनने मे कोई भूल तो नही हो गई, गिनते गिनते उंगलियाँ घिस चली। 'गिणता गिणता घस गई आँगलियाँ री रेख' (मारवाड़ी दोहा)। महु–मोहि, दिअहडा–धियाडा, देखो पहले पत्रिका भाग २, पृ० ३५। दइएं-दयितें (पंजाबी) कर्ता का एं,–राजें गद्दण व्याही, हिंदी मइं, मैं।

(९)

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चुवि परिहरइ सम्माणेइ खलाइ ॥

सागर, ऊपर, तृण, धरै (है), तल मे, घालता (=रखता या भेजता) है, रतनो को, (यो ही) स्वामी, सु-भृत्य को भी, परिहरै (=छोड़ता है) संमानित करता है, खलो को।

(१०)

गुणहिं न सपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति।
केसरि न लहइ वोड्डिअवि गय लक्खेहि घेप्पन्ति ॥

गुणो से, न, सपत्ति, कीर्ति, भले ही (हो जाय), फल, लिखे हुए, भोगते हैं (लोग), केसरी, न, पाना है, कौडी भी, गज, लाखो से, लिए जाते हैं। सब अपना अपना लिखा हुआ कर्मफल भोगते है। गुणो से सपत्ति नही मिलती, कीर्ति भले ही मिल जाय। सिह को कोई कौडी को भी नही पूछता, हाथी लाखो रुपये देकर खरीदे जाते हैं। घेप्पन्ति—ग्रहण किए जाते हैं, मराठी घ्या (सं० ग्रह), संपइ—क्रियापद हो तो संपै–सपन्न होवे, कीर्ति उसका कर्म।

(११)

वच्छहे गृण्हइ फलइं जणु कडुपल्लव वज्जेइ।
तोवि महद्दुमु सुअणु जिवं तें उच्छङ्गि धरेइ ॥

वृक्ष से, ग्रहण करता है, फलो को, जन, कटु पल्लवो को, बरजता (छाडता) है, तो भी महाद्रुम, सुजन, जिम, तिन्हें, उत्सग (गोद) मे, धरता है। लोग कडे पत्तो को छोड दें तो छोड दें, वृक्ष थोडे ही उन्हें छोड देगा ?

(१२)

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहुँ पडिअसिल अन्नुवि चूरकरेइ॥

दूर (की) उडान से (ऊँचे पद से), पडा हुआ, खल, अपने, जन (को), मारता है, ज्यो, गिरि शृग से, पडी हुई, शिला, अन्य को भी, चूर, करती है। मारेइ–मारे, करेइ–करे। दुष्ट का बढना अपने कुल के ही अहित के लिये होता है।

(१३)

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स ।
तसु हउं कलिजुगि-दुल्लहहो वलि किज्जउ सुअणस्सु ॥

जो, गुण, गुपाता (छिपाता) है, अपने, प्रकट, करता है, परके, तिसकी, मैं, कलियुग मे, दुर्लभ की, वलि, किया जाऊँ, सुजन की। गोवइ–गोष, छिपाता है, गुप्त करता है, मिलाओ गुइयाँ = अतरग (गुप्त) सखी। हउँ = हो, मैं। वलि किज्जउ—वलिहारी जाऊँ, वल जाऊँ, वलैया लूँ, देखो पृ० १०२ मे (५)। दोधकवृत्तिवाला कहता है कि वलि पूजा क्रिये इति भाव. !

(१४)

तणह तइज्जी-भङ्गि नवि ते अवडयडि वसन्ति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइ मज्जन्ति ॥

तृणो की, तीजी, चाल, नही (है), तिससे, अवटतट मे, बसते है, या, जन, (उनसे) लगकर (उनका सहारा पाकर), उतरता है, या, साथ, स्वयं, डूबते हैं। अवट या विपम कूप या खड्डे के तट पर उगनेवाले तृणो के दो ही काम हैं–या तो उनकी कृपा से डूबता आदमी वच जाय, या वे उसके साथ डूब जायें; उनकी कोई तीसरी भगि नही। अन्योक्ति मे; या तो दूसरे को तार दे वा स्वय मारा जाय।

तइज्जी–तीजी, तीसरी। नवि–न भी; नही। अह···अह; सं० (अथ) या ··या। सइं–स्वय, सँ = सव।

(१५)

दइवु घडावइ वणि तरुहुँ, सउणिहं पक्क फलाइ ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खलवयणाइं ।।

दैव -घटित करता (पहुँचाता, जुटाता) है, वन मे, वृक्षो के, पक्षियों के (को), पक्व फलो को, सो, वरत, सुख (है), प्रविष्ट, नहीं (सुखदायक हैं), कानो मे, खलवचन । वन मे पक्षियो को दैव के जुटाए पक्के वृक्षो के फल भले किंतु कानो मे घुसे खलवचन भले नही । भर्तृहरि के एक प्रसिद्ध श्लोक का भाव है । घडावइ–सं० घटयति । सउणि–सं० शकुनि । वरि–वरु, वरन् । सुक्खु—सौख्य । पइट्ठ–पैठा । णवि–न + अपि ।

(१६)

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि ।
हउँ कि न जुत्तउ दुहुँ दिसिहिं खण्डइ दोण्णि करेवि ।।

धवल, विसूरता है, स्वामि का, गुरु, भार, देखकर, मैं, क्यो, न, जोता (गया), दोनो, दिशाओ मे, खड, दो, करके । धवल का अर्थ श्वेत है किंतु रूढि इसकी 'धोरी' या धुर खैंचनेवाले प्रवल गाड़ी के बैल मे हैं । हेमचद्र के देशी नाममाला मे धवल का अर्थ किया है कि जो जिस जाति मे उत्तम है वही धवल है । धवल की दृढता और स्वामिभक्ति पर कई मुक्तक काव्य सस्कृत तथा प्राकृत सुभाषितो मे मिलते हैं । यहाँपर बोझ बहुत है, एक ओर धवल जुता है, दूसरी ओर कोई मरियल, अडियल बैल है । धवल स्वामी की भारी खेंप देखकर विलाप कर रहा है कि दोनो ओर दो टुकड़े करके मुझे ही क्यो न जोत दिया ? पिक्खेवि, करेवि–पूर्वकालिक । जुत्त–युक्त (सं०), जोता । दोण्ण–दो, मराठी दोन ।

(१७)

गिरिहे सिलायलु तरुहे फल घेप्पइ नीसावँन्नु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसह तोवि न रुच्चइ रन्नु ।।

गिरि से, शिलातल, तरु से, फल, ग्रहण किया जाता है, नि सामान्य (विना भेद भाव), घर, छोड़कर, (मनुष्य से), मनुष्यो को, तो भी, न रुचता है, अरण्य । मेल्लेप्पिणु–छोड़कर, रन्न–अरण्य ।

(१८)

तरुहुँ वि वक्कलु फल मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउँ आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥

तरुओं से, भी, वक्कल, फल, मुनि भी; परिधान (वस्त्र), अशन (भोजन), पाते हैं, स्वामिओं से, इतना अगला (=अधिक) (है कि) आदर भृत्य लेते है (=पाते है)। खाना पहनना तो जगल मे पेडो से भी मिल जाता है, स्वामी से आदर ही अधिक मिलता। लहन्ति–सं० लभ। एत्तिउ–एतो। अग्गलउँ–अग्गलो, आगलो स० अग्रल, राजस्थानी मे पाँच ऊपर सत्तर को 'पाँच आगला सित्तर' कहते है।

(१९)

अह विरल-पहाउ जि कलिहि धम्मु।

अब, विरल प्रभाव (है), ही, कलि (युग) मे धर्म। अह–अथ, जि–जो, पादपूरक।

(२०)

अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु बाएँ सोअलु तेवँ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥

आगी से, ऊन्हा (गरम), होता है, जग, वायु से, शीतल, त्यो ही, जो पुनि आगी से शीतल (होता है), तिसके, उष्णता, किससे (हो)? उण्हउ–सं० उष्ण। वाएँ—वायु से, पजाबी वाओ, पुणु—पुनि। उण्हत्तणु—त्तणु भाववाचक का है।

(२१)

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तोवि त आणहि अज्जु।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गि कज्जु ॥

विप्रियकारक, यद्यपि, प्रिय (है), तो, भी, उसे, ला, आज, आग से, दहा गया, यद्यपि, घर तो, उस (से), अग्नि से काज (ही होता है) विप्रियकारक—बुरा करनेवाला। पिउ–पीव, पिय। दड्ढा—जलाया, दाढा (रामायण)० स० दग्ध

(२२)

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहँ णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय सरु खर पत्थरि तिक्खेइ ॥

ज्यो, ज्यो, बांके, लोयनो से, निरु (? कटाक्ष), सांवली, सीखती है, त्यो, त्यों, मन्मय (कामदेव), निज (क) शरो को, खरे पत्थर पर, तीखा करता है। मैने बकिम को 'लोग्रण' का विशेषण माना है जिससे 'निरु' का अर्थ स्पष्ट नही जान पडता, दोधकवृत्ति ने निरु का अर्थ 'निश्चय' करके 'लोचनो से निश्चय बांकापन सीखती है' अर्थ किया है। वम्मह = मन्मय। निग्रय—निजक। खर-तीखा। तिक्खेइ-तीखा से नाम धातु।

(२३)

सगरसएहि जु वण्णिग्रइ देक्खु अम्हारा कन्तु।
अइमत्तह चत्तङ्कुसह गयकुम्भइ दारन्तु॥

सौ सौ लडाइयो मे, जो वरना (वर्णन किया) जाता है, देख, हमारा (वह) कत, अतिमत्त, अकुश छोडनेवाले, गजो के, कुभो को (वि+) दारता हुआ। सगरसय-सगरशत। चतंकुस-त्यक्तांकुश।

(२४)

तरुणहो तरुणिहो मुणिउ मइ करहु म अप्पहो घाउ।

तरुणो! तरुणियो!, जानकर, मुझे (= मेरी वात समझकर या मुझे यहाँ उपस्थित जानकर) करो; मत, अपना, घात। मुणिउ मइ—मैंने समझा, या मैंने समझाया, भी हो सकता है।

(२५)

भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहि तिहिंवि पवट्टइ।

भागीरथी, जिमि, भारती, मार्गों से, तीन से ही प्रवर्तती (चलती) है। जैसे गंगा त्रिपथगा स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तीनो मे चलती है वैसी भारती (सरस्वती) के मार्ग भी तीन है—वैदर्भी, गौड़ो पाचाली—तीन रीतियाँ।

(२६)

सुदर-सव्वङ्गाउ विलासिणीग्रो पेच्छन्ताण।

सुंदर सर्वाङ्ग (वाली) विलासिनिओ को देखते हुए (पुरुषो) का—

(२७)

निग्र मुह-करहिंवि मुद्ध कर अन्धारइ पेडिपेक्खइ।
ससि-मण्डल-चन्दिमए पुणु काइँ न दूरे देक्खइ॥

निज मुख करो (किरणो) से, भी, मुग्धा, कर, अँधियारे मे, देखती है, शशि मडल की चाँदनी से, फिर क्यो, न, दूर पर, देखती है? मुख को चद्रमा की उपमा दी जाती है उसी के उजास से उसे हाथ अँधियारे मे दिखाई देता है तो चाँदनी मे क्यो न दीखे? मुद्ध—मुद्धि, मुग्धा। पडिपेक्खइ—प्रतिपेक्षते (स०)। चदिमा—चाँदनी। पुणु—पुनि।

(२८)

जहि मरगय कतिए सवलिअ।

जैसे मरकत-काति से सवलित (मिला हुआ)—

(२९)

तुच्छ मज्झहे तुच्छजम्पिरहे।
तुच्छच्छ रोमावलिहे, तुच्छराय तुच्छयर-हासहे,
पियवयणु अलहन्तिहे,
तुच्छ-काय-वम्मह-निवास हे,
अन्नु तुच्छउँ तहे धणहे त अक्खणह न जाइ।
कटरि थणतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चिण माइ॥

दूती नायक से कह रही है—हे तुच्छ राग! शिथिल प्रेमवाले! जिसका मध्य भाग तुच्छ है, जो तुच्छ (मित) जल्पन (भाषण) करती है, जिसकी रोमावलि तुच्छ और अच्छी है, जिसका हास तुच्छतर है, जिसके तुच्छ काय मे मन्मथ का निवास है, जो प्रिय के वचन नही लभती (पाती) है, ऐसी उस धन (नायिका) का जो (कुछ) अन्य तुच्छ है वह आखा (कहा) नही जाता (अर्थात् इतना तुच्छ है कि मानो है ही नही), वह यह कि उस मुग्धा का स्तनातर इतना तुच्छ है कि बीच मे मन भी नही मानता। आश्चर्य है।

दोधकवृत्तिकार ने इसे युग्म लिखा है पर यह एक ही रड्डा छद है ऐसे छद सोमप्रभसूरि की रचना मे मिलते हैं (देखो ना० प्र० पत्रिका, भाग २, पृ० १५१ और २२५-६)। इसमे नायिका के विशेषण प्रायः बहुव्रीहि समास हैं और हे (=उच्चारण मे हँ) सबध कारक के चिह्न हैं, तहे धणहे = तहँ धणहँ = उस (का) धन का। जम्पिर—बोलनेवाला। रायराग, प्रेम। तुच्छयर = तुच्छतर। अलहन्ती-अलभन्ती (स०)। वम्मह-देखो ऊपर (२२), मन्मथ, कामदेव। अन्नु-आन। जु-जो। अक्खण-आखना, कहना। कटरि-आश्चर्यवाचक।

मुद्धडा—मुग्धा, 'ड' अल्पवाचक-। जें—जिससे। विच्चि—वीच, पजावी-विच्च। माइ—समाइ।

(३०)

फोडेन्ति जे हियडउँ अप्पणउँ ताहँ पराई कवण घण।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा वालहे जाया विसम थण॥

फोडते हैं, जो हियडा (को), अपना (को), उन्हें, पराई, कौन, घृणा (दया) (हो सकती है) ? रक्षा करो, हे लोगो! अपने को, (क्योंकि) वाला के, जाए (उपजे) हैं, विषम (ऊँचे), स्तन। यहाँ 'वालहे' का अर्थ 'वाला के' किया है किंतु हेमचद्र इसे पचमी या अपादान (ङसि) कहते हैं याने वाला से उपजे हैं। घरण-घृणा, दया। थरण- अब भी पशुओ के लिये व्यवहृत है।

(३१)

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कन्तु
लज्जेज्जं तु वयसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥

भला, हुआ, जो, मारा (गया), बहन! मेरा, कत, लजाती (मैं), तो, (एक)—वयस-वालियो (सखियो) से, यदि, भागा, घर, आता (वह)। प्रसिद्ध दोहा है। भग्गा—भग्न, हारा हुआ, भागा। वयसिअहु—वयस्याओ से या का (सं०) वयस् = वैस = उम्र। लज्जेज—लजीजती, लजाती।

(३२)

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

वायस (कौआ), उड़ाती (हुई) ने, पिय, दीठा (देखा), सहसा इति, आधे, वलय (कडे, चूडियाँ) मही पर, गए, आधे फूटे, तड् इति (इस आवाज से)। प्रसिद्ध दोहा है। इसकी व्याख्या और रूपांतर पृ० १५ मे दिए गए है। उड्डावन्ती—उडा (व) ती। दिट्ठउ—दीठो। अद्ध—आधा, स० अर्ध।

(३३)

कमलइं मेल्लवि अलि-उलइं करि-गण्डाइं महन्ति।
असुलहमेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणन्ति॥

कमलो को, छोडकर, अलिकुल, करियो के गंड (स्थलो) को, चाहते हैं, असुलभ (की) चाह, जिनके, भली, (होती है) वे, न भी, दूर, गिनते हैं। मेल्लवि–छोडकर, महन्ति–चाहते है। मेच्छण–चाहने को, भलि–बढ़ी, पादपूरक भी हो सकता है।

(३४)

भग्गउ देक्खिवि निअय-वलु वलु पसरिअउ परस्सु।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु॥

भागा, देखकर, निज, वल(=सेना) को, वल, पसरा (=फैला) हुआ, पर (=पराए) का, उमिलती (=खिलती) है, शशिरेखा, जिमि, हाथ मे, तलवार, पिया के। भग्ग–भागा और भाँगा। निअय–निजक, पसरियउ–पसरियो। उम्मिल्लइ–उन्मीलति (सं०)।

(३५)

जइ तहो तुट्टउ नेहडा मइ सहु नवि तिल-तार।
त किहे वङ्केहिं लोअणेहिं जोइज्जउं सय-वार॥

यदि तेरा, टूटा (है), नेह, मुझसे, साथ (=मेरे से),न ही, तिल (सी आँख की) तारा-वाले!, तो क्यो (मैं) बाँके, लोचनो से, जोही जाती हूँ, सौ वार? 'न वि' केवल पादपूरक है। स्नेह टूटा है तो ताक झाँक क्यो करते हो? तहो–तुह, तुअ। तुट्टउ–मारवाडी 'तूटना' मे सं० त्रुट् की श्रुति है। तिलतार–तिल जैसी काली या स्निग्ध तारा(आँख की पुतली) है जिसके। जोइज्जउं–जोही जाती हूँ।

(३६)

जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु।
तहिं तेहइ भड-घड-निवहि कन्तु पयासइ मग्गु॥

जहाँ, कटता है, शर से, शर, छिदता है, खड्ग से, खड्ग, तहाँ, तैसे, भट-घटा-निवह (वीर-सेना-समूह) मे, कंत, प्रकाशता है, मार्ग।

जहिं-तहिं–ठीक अर्थ जिसमे, तिसमे। कप्पिज्जइ–कपीजता है, कटता है, मारवाड़ी मे कापना=काटना, कापी=कटा टुकडा (शाक आदि का)। छिज्जइ–छीजता है (सं०) छिद्यते। भड–देखो प्रबंध चिंतामणि के अवतरणो मे नं० १४ (पृ० ४७)। पयासति–प्रकाशित करता है, उजासता है, निकालता है।

(३७)

एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ ।।
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि-मग्गसिरु ।
तहे मुद्धहे मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु ।।

एक मे, आँख मे, सावन, आन (= दूसरी) मे, भादो, माधव (= वसत) मही-तल कीसाथरी मे, गडस्थल (कपोल) मे शरद, अगो मे ग्रीष्म, सुख-बैठक (रूप) तिलवन मे, मँगसिर, उस (के), मुग्धा के, मुख-पकज मे, आवासित (है), शिशिर। वियोगिनी की अवस्था है, सावन भादो आखो मे आसू झरने से, साथरी मे नए नए पत्ते विछाने से वसत, कपोल मे पाडुता (पीलापन) होने से शरद, अग सूखने से ग्रीष्म, मँगसिर मे तिलो के खेत कट जाते हैं इसलिये वे उजडे से दीखते है, वैसे ही सुख की बैठक नही रही, शिशिर मे कमल मुरझा जाते है। सत्थर—साथरा तुलसीदास। सुहच्छी—खासिका, स० सूखस्थिति यह भी 'युग्म' नही है, एक छद है।

(३८)

हियडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवे काइं ।
देक्खउ हय-विहि कहिं ठवइ पइं विणु दुक्ख सयाइं ।।

हे हिय !, (तू) फूट, तडत्-इति, करके, कालक्षेप से क्या देखूं, हत-विधि कहाँ, स्थापन करे, मुझ विन, दु खशतो को ? मेरा हिया ही सैकडो दु.खो का आधार है, वह फट जाय तो देखें मुआ विधि मुझे छोड कर उन्हें कहाँ धरता है? तडत्ति—देखो ऊपर (३२), कालक्खेव—समय विताना। ठवइ— (स०) स्थापयति। पइ—मैं।

(३९)

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु ।
अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउवि फेडइ तासु ।।

कत, मेरा, हला !, सखी !, निश्चय से, रूसता है, जिसके (= जिसपर), अर्थों से, शस्त्रो से, हाथो से भी, ठाँव भी फेंटता है, उसका।

महारउ—महारो, म्हारो। हलि—सबोधन। रुसइ—रोष करता है। अत्थ-धन। दीपक वृत्ति का कर्त्ता जैन पंडित कहता है अर्थ-शब्दार्थो से भी। फेडइ—फेंटता है, फेंट मे लेता है, घेरता है, ढहा देता है।

(४०)

जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णिवि अवसर निवडिआइ तिण सम गणइ विसिट्ठु ॥

जीवित, किसका (=किसको) न, वल्लभ (=प्यारा) है, धन, पुनि, किसका (=किसे), व, इष्ट (है), दोनो ही, अवसर निवटने पर, तृणसम, गिनै, विशिष्ट (जन) ।

निवडिआइ–निवटने पर, आ पडने पर, इसे भावलक्षण सप्तमी मानकर यह अर्थ किया है, अवसर-निवडिआइ को एक पद और 'दोण्णि' का विशेषण मानो तो अवसर पर निवटे (काम मे आए, खर्च हुए) इन दोनो ही को विशिष्ट मनुष्य तृणसम गिनता है—यह अर्थ होगा ।

(४१)

अङ्गणि चिट्ठदि नाहु ध्रु, त्र रणि करदि न भ्रन्त्रि ।

आँगन मे वैठता है, नाथ, जो, सो, रन मे, करता है, न भ्राति, या वह रन (मे वीरता) करता है इसमे भ्राति नही । वह मत समझो कि यह आँगन मे वैठा लडता नही है । एक मारवाडी दोहे के अनुसार—

भोलो भोलो दीसतो सदा गरीवी सूत ।
काकी कुजर काटतॉ जाणवियो जेठूत ॥

(भोला भोला दिखाई देता था सदा गरीवी से सीधा सादा, किंतु चची ! लडाई मे हाथियो को काटते समय मेरा जेठ का वेटा जान पडा कि उसमे ये जौहर है) ।

जो सा के लिये ध्रु त्र आते हैं (हेमचद्र ८।४।३६०) त्र मे तो त(तू) है ही, र लगा है जैसे भ्रन्त्रि मे (दूसरा रूप भति मिलेगा, दे० ४५) । र लगने के लिये आगे देखो व्यास का व्रास (६१) ।

(४२)

त वोल्लिअइ जु निव्वहइ ।

सो वोलिए जो निवहै । (सो बोला जाय, जो निबाहा जाय) ।

(४३)

एक कुमारी एहो नरु यहु मणोरह,ठाणु
एहऊ वढ चिन्तम्ताह पच्छह होइ विहाणु ॥

गह, कुमारी, यह, नर, यह मनोरथ-स्थान (है), यो, मूर्खो (का) जीतते हुओ (का), पीछे होता है, विहान । विचार ही विचार मे रात बीत जाती है । वढ—मूर्ख सवध या ससोधन, चिंतंत—सोचते हुए ।

(४४)

जइ पुच्छह घर वड्डाइ तो वड्डा घर ओइ ॥
विहलिया-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥

यदि, पूछते, हो घर, वडे, तो वडे घर वे है (हैं)—विकल जनो (के) अभ्युद्धरण (करनेवाले), कत को कुटीर में देख । वडे घर महल नही होते विह्वलित जनो के उद्धारक मेरे कंत को कुटी मे वैठा देखो—वही वडा घर है जहाँ परोपकार होता है । पुच्छह—कर्ता तुम, विहलिय—स० विहलित जोइ—जोह ।

(४५)

आयइ लोअहो लोअणइ जाईसरइ न भन्ति ।
अप्पिए दिट्ठइ मउलइ पिए दिठ्टइ विहसन्ति ॥

ये, लोग कें, लोचन, जातिस्मर (हैं), (इसमे) न, भ्राति (है), अप्रिय (मनुष्य) के, देखे, (पर) मुकुलित होते है, प्रिय के, देखें (पर) हँसते हैं । जाईसर—जातिस्मर, जिसे पूर्व जन्म के प्रियाप्रिय की याद हो, यदि जाई सरइ दो पाद हो तो, जाति को—पूर्वजन्म को—स्मरण करते हैं। अप्पिए दिट्ठइ—भावलक्षण सत्पमी, अप्रिय या प्रिय (मे) दीठे (देखे हुए) मे ।

(४६)

सोसउ म सोसउ च्चिअ उअही वडवानलस्स किं तेण ।
ज जलइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जत्तं ॥

सूखो, न, सूखो, भी, उदधि, वडवानल का, क्या, उससे, जो, जलता है, जल मे ज्वलन (आग), इससे, ही, क्या, नही, पर्याप्त (हुआ) ? कठिन या असभव कार्य सिद्ध न हो तो उद्योग मे ही सफलता है। सोसइ—सूसो। च्चिअ—निश्चय। आएण—इससे।

(४७)

आयहो दड्ढ-कलेवरहो ज वाहिउ त सारु ।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छारु ॥

इस (का), दग्ध कलेवर का, जो, वाहित (हुआ = वीत गया, चल गया), वह सार (= अच्छा) है, जो तोपा (जाता है) (= ढका जाता; गाडा जाता है) तो कुथता (सडता) है, और, दग्ध होता (जलाया जाता) है, तो छार (होना है)। दड्ढ–दाढा। दग्ध, सार–गुजराती सारु, अच्छा। उट्टुभइ–सं० उत्तभ्यते। कुहहि–स० कुथ्यते, क्वथति। डज्झइ–दाझै, स० दह्यति। छार–क्षार, राख, भस्म।

(४८)

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण।
वड्डप्पणु परि पाविग्रइ हत्थि मोक्कलडेण ॥

सव, भी, लोक, तडफडाता है, वडप्पन के, लिये, वडप्पन, पर, पाया जाता है, हाथ से, देने से। साहु–सउ, सँ–तडप्फडइ–उत्सुक होता है। वड्डत्तण–वडापन। तणेण–वास्ते से। मोक्कलड, मोक्कलण–देना (गुजराती)।

(४९)

जइ सु न आवइ दूइ घरु काइ अहोमुहु तुज्झु।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ॥

यदि, सो, न, आता, है, दूति! घर, क्यो, अधो-मुख, तेरा (हुआ)? वचन (और वदन), जो खडित करता है, तेरा, सखि!, सो, पिय, होता है, न मेरा। कुमारपालचरित के परिशिष्ट मे 'सहि एसो' छपा है। दूती को उपालभ है। 'अधोमुख' खडित वदन को छिपाने के लिये है, वचन का खडन कहना न मानने से है। वयणु–वचन और वदन का श्लेष।

(५०)

काइं न दूरे देक्खइ।

क्यो, न, दूर, देखता है?

(५१)

सुपुरिस कङ्गुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण।
जिवँ जिवँ वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण ॥

सुपुरुष, कँगु की, अनुहार करते हैं, कह, काज, कौन से? ज्यो ज्यों वड़प्पन, पाते हैं, त्यो, त्यो नँवते हैं, सिर से। कङ्गु–एक धान। अनुहरहिं–

नकल करते हैं, सदृश होते हैं, भरणना–कहना। कज्ज कवरगेन–किस कार्य से? किस बात से?=कवरग–कौन। जिवँ जिवँ तिवँ तिवँ जिमि जिमि (भाजत शक्रसुत)··तिमि तिमि (धावत रामसर)··· (रामचरितमानस)।

(५१)

जइ ससरोही तो मुइग्र ग्रह जीवइ निन्नेह।
बिहिंवि पयारेहिं गइग्र धण किं गज्जहि खल मेह॥

यदि, सस्नेही, (है) तो, मुई, और (जो) जीती है, (तो) निर्नेह (है), दोनो ही, प्रकारो से, गई, नायिका, क्यो गाजता है? खल मेघ! यदि स्नेहवती हुई तो वियोग मे मेघ गर्जन सुनकर मर गई, यदि जीती है तो उसे नेह नही, प्रिया तो दोनो ही तरह से गई। विहि–दोनो, वे=द्वे (सं०)। मुइग्र गइग्र-मुई, गई।

(५३)

भमरु म रुणुझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसन्तरिग्र जसु तुहुँ मरहि विग्रोइ॥

भ्रमर!, मत, रुनझुन (शब्द) कर अरण्य मे, वह, दिशा, जोहकर, मत, रो, वह, मालती, देशातरित (है), जिसके, तू, मरता है, वियोग मे। रुणझुण–अनुकरण शब्द का नामधातु। रण्णडइ—देखो ऊपर (१७) 'रन्न'।

(५४)

पइं मुक्काहवि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं।
तुझ पुणु छाया जइ होज्ज कहविता तेहिं पत्तेहिं॥

तुम से, मुक्तो (छोडे हुओ) का, भी, हे वरतरु! फिटता है, (विगडता है) पत्तापन, न, पत्तो का, तेरी, पुनि, छाया, यदि, होवे, किसी तरह भी, (तो) वह उन्ही पत्तो से (होगी) अन्योक्ति। मुक्क–मूका (गुजराती)। फिट्टइ–हटता है, बिगड़ जाता है मिलाओ दूध फिटना, फिटकार, मर फिटमुँहे! होज्ज–होवे तो, होती तो। दोधक वृत्ति मे 'विवरतरु' एक पद मानकर 'वि (पक्षी)+वर (अच्छे) का तरु' भी अर्थ किया है।

(५५)

महु हियउ तइं ताए तुहु सवि अन्नें विनडिज्जइ।
पिग्र काइ करउ हउं काइ तुहु मच्छें मच्छु गिलिज्जइ॥

नायिका अन्यासक्त नायक को कहती है मेरा, हृदय, तैंने (लिया), उस (प्रतिनायिका) ने, तू (लिया), वह भी, अन्य से, नटाई (नचाई) जाती है, पिया ! क्या, करूँ, मैं, क्या, (करे) तू, मच्छ से, मच्छ निगला जाता है। भर्तृहरि के 'धिक्ता' वाले श्लोक का भाव है। मच्छ मच्छ को निगलता है यह 'मात्स्य न्याय' या 'मच्छ गलागल' प्रसिद्ध कहावत है। तइँ—तैं। विनडिज्जइ—विनडीजै। गिलिज्जइ—गिलीजै।

(५६)

पइं मइ बेहिंवि रणगयहिं को जयसिरि तक्केइ।
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ॥

तुझमे, मुझमे, दोनो ही में, रणगतो मे, कौन, जयश्री को, तकता है? केशो से लेकर, जम की घरवाली को, कह, सुख, कौन, रहै? (जब हम तुम लडने चलते हैं तो कौन जयश्री को चोह सकता है? कौन यमपत्नी के बाल खैंचकर सुख से रह सकता है? कोई भी नहीं।) पइं मइं—अधिकरण। बे—दो। तक्केइ—तकता है। लेप्पिणु—पूर्वकालिक। थक्केइ—थाके।

(५७)

पइं मेल्लन्तिहे महु मरणु मइं मेल्लन्तहो तुज्झु।
सारस जसु जो वेग्गला सो वि कृदन्तहो सज्झु॥

तुझे छोडती, का मेरा, मरण (है), मुझे छोडते हुए का तेरा (मरण है), सारस! जिसका (=जिससे), जो दूर है, वह ही कृतांत का साध्य (=मारने योग्य) है। नायक को सारस कहकर अन्योक्ति है। पइ, मइं—कर्म कारक। मेल्लती मेल्लन्त—वर्तमान, धातुज। हो—सबध का 'हो' छद के अनुरोध से लघु पढा जायगा। वेग्गला—दूरस्थ।

(५८)

तुम्हेहिं अम्हेहिं जे किअउं दिट्ठउ बहुअजणेण।
त तेवड्डउ समर भर निज्जिउ एक्क-खणेण॥

तुमसे, हमसे, जो किया (गया), (वह) दीठा, बहुत जन (मनुष्यो) से, वह तितना, समर (का) भर, निर्जित (किया गया), एक क्षण से (=मे)। तेवडा—तितना। जेवड़ा = जितना। तेवडो जेवडो। (देखो, आगे १०१)।

(५९)

तव गुण-सपइ तुज्झ मदि तुध्र अगुत्तर खन्ति ।
इजइ उप्पति अन्न जण महि-मण्डलि सिक्खति ॥

तेरी गुण-सपत्ति, तेरी मति, तेरी, अनुत्तर (=जिसके कोई बड़ी न हो) क्षाति, यदि, पास आकर, अन्य जन, महीमडल मे सीखे (तो ठीक है)। तऊ, तुज्ज, तुध्र—तेरा । उप्पत्ति—उप्पतिय, = उपेत्य (सं०) ।

(६०)

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइजण जोण्ह करन्ति ॥

हम, थोड़े, रिपु, बहुत, कायर यो कहते हैं, मुग्धे ! देख, गगनतल (मे) कै, जने, जुन्हाई, करते (एक चंद्रमा ही) । पाठातर के लिये देखो, सोमप्रभ नं० २८ (पत्रिका भाग २, पृ० १४८) । थोवा—थोडा, स० स्तोक । एम्व—एव (सं०), पजाबी ऐवे । जोण्ह—स० ज्योत्स्ना, हिं० जुन्हाई, जोन्ह—चाद ॥

(६१)

अम्वणु लाइवि जे गया पहिअ पराया केवि ।
अवस न सुअहि सुहच्छिअहि जिवँ अम्हइ, तिवँ तेवि ॥

अपनपा, लगाकर, जो, गए हैं पथिक पराए, कोई भी, अवश्य, नही, सोते हैं, सुखासिका से जैसे हम, वैसे वे भी । अम्वणु—अपनापन, ममता, स्नेह । सुहच्छिअहि —सुखासिका (स०), सुख की बैठक, सुख की नीद, (ऊपर, ३७) । अम्हइ—हम, म्हे (राजस्थानी) ।

(६२)

मइ जाणिउ पियविरहिअह कवि धर होइ विआलि ।
णवर मिअङ्कुवि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि ॥

मे (ने), जाना प्रियविरहितो को, कोई भी सहारा, होता है रात्रि को नही, पर मयक भी जैसे, तपता है, जैसे दिनकर (=सूर्य) क्षय (प्रलय) काल मे । देखो, सोमप्रभ स० १८ (पत्रिका भाग २, पृ० १४४) ।

(६३)

महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु ।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तओ करवालु ॥

मेरे, कत के, दो, दोष (हैं) हे आलि, मत झख, अलपल (= बकमत) देते के; मैं, पर, उवरी हूँ, जूझते को तलवार (उवरी है)—अल्लपल तो बके मत; सखी ! मेरे पति के दो दोष हैं, देते देते तो मैं बची और लडते लडते तलवार। हो, ओ–लघु पढो। दोसडा–दोष (कुत्सा मे ड) । हेल्लि–हे आलि । झंख–हि० झखना, झीखना। आलु–अडवड । देन्त, जुज्झन्त–वर्तमान धातुज । हउं । हौं । उव्वरिय–स० उर्वरित, हि० उवरी ।

(६४)

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहतणा तो तें मारि अडेण ॥

यदि, भागे, पराए, तो, सखि, मेरे पिया से, और (जो) भागे, हमारे, तो उससे, मारे हुए से । यदि पराए पक्ष की सेना भागी हो तो मेरे पिया ने उसे भगाया होगा, यदि अपने भाग रहे हैं तो उसके मारे जाने पर ही ऐसा परिणाम हो सकता है । भग्गा–भग्ना (सं०) भागे अर्थात् टूटे, हारे इसी से भागे । पारक्कडा, अम्हह तणा–पराए और हमारे । मारिअड–मारितक (सं०) प्रसिद्ध दोहा है ।

(६५)

मुह कवरिवन्ध तहे सोह धरहिं
न मल्ल जुज्झ ससिराहु करहिं ।
तहे सहहि कुरल भमर-उल-तुलिअ
नं तिमिर डिम्भ खेलन्ति मिलिअ ॥

मुख और चोटी का बँधना, उसके, शोभा, धरते हैं, मानो, मल्लयुद्ध, शशी और राहु, करते है, उसके, सोहते है, केश, भ्रमर कुल (से) तुलित (तुल्य), मानो तिमिर (अँधेरे) के बच्चे खेलते हैं, मिले हुए (= मिलजुल कर) । नं = जैसे, नाई ।

(६६)

वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहुवि न पूरिअ आस ॥

पपीहा, पिउ, पिउ, कहकर, कितनी बार, रोता है, हे हताश; तेरी, जल में (= जल से) मेरी पुनि, वल्लभ मे (= से) दोनो मे ही, न, पूरी, आस ।

(६७)

वप्पीहा कइ वोल्लिएण निग्घिण वारइवार ।
सायरि भरिअइ विमल जलि लहहि न एक्कइ धार ॥

पपीहा क्या, वोलने से, हे निर्घृण !, वार वार सागर मे, भरे मे, विमल जल से, पाता है, न, एक भी, धार ।

(६८)

आयहि जम्महि अन्नहि वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तह चत्तङ्कुसह जो अब्भिडहि हसन्तु ॥

इसमे, जन्म मे, अन्य मे, भी, हे गौरि, सो, दीजै, कंत (मुझे) गजो, मत्तो, त्यक्ताङ्कुशो को (से), जो आ + भिडै, हँसता हुआ । आय-यह, चत्त-त्यक्त, अब्भिडहिं-सामने आवे, आ भिड़े ।

(६९)

वलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणउ देहु म मग्गहु कोइ ॥

वलि (के या से), अभ्यर्थन (माँगने) मे, मधुमथन (मधु दैत्य को मारनेवाले विष्णु), लघु हुए, वह भी, यदि, चाहते हो, वडापन (तो) दो मत मागो, कोई । लहुईहूआ—लघुकीभूत, वड्डत्तण-वड़ापन ।

(७०)

विहि विनडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ ।
सपइ कड्ढउं वेस जिवं छुडु अग्घई ववसाउ ॥

विधि, नट जाओ, पीडा दें, ग्रह, मत, हे धन (= प्रिये), करो, विषाद, संपत्ति को, काढता हूँ, वेश (की), तरह यदि, चलता है, व्यवसाय । विनडउ—नटै, नाचे, या नाही करे, धन = प्रिया, देखो ऊपर (१), मिलाओ मिरजापुरी कजलियो की 'धनिया', वेस—दोधकवृत्ति के अनुसार वेश्या, छुडु—यदि, अग्घइ—अर्घति, मोल पाता है ।

(७१)

खग्ग-विसाहिउ जहि लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं ।
रणदुब्भिक्खे भग्गाइं विणु जुज्झे न वलाहुं ॥

खड्ग से, भी, साधित, जहाँ, पावे, प्रिय! उस, देश को, जावे, रणदुर्भिक्ष मे, भाँगे (हम), विना, युद्ध (के) नही, प्रसन्न होते। जहाँ खड्ग चलाकर जीविका निर्वाह कर सके वहाँ तो रणदुर्भिक्ष से (दिल) टूट गए विना युद्ध के आनद नही आता। भग्गाई-भग्न, वलाहु-न रति प्राप्नुम (दोधक-वृत्ति) यह अर्थ उसी के अनुसार है किंतु कुछ खटकता है। रणदुर्भिक्ष मे भागे है, विना युद्ध के न लौटेंगे (जैसे दुर्भिक्ष के कारण देश से भागे विना सुभिक्ष नही लौटते)—यह अर्थ अच्छा है।

(७२)

कुञ्जर सुमरि म सल्लइउ सर सास म मेल्लि।
कवल जि पाविय विहिवसिण ते चरि माण म मेल्लि॥

हे कुजर, स्मरण कर, मत, सल्लकियो (एक प्रकार की वेलो) को, सरल (लवे) रख। साँस, मत, छोड, कौर जो पाए विधिवश से, उन्हें चर, मान, मत दोधकवृत्ति के अनुसार मेल्लि का दोनो जगह 'छोडना' अर्थ करने से निरर्थक वाक्य हो जाता है कि सल्लकी को याद मत कर, उसास मत ले, जो मिलता है उसे चर और मान मत छोड। सास न मेल्लि अर्थात् साँस मत ले, दूसरा मेल्लि—रख।

(७३)

भमरा एत्थु वि लिम्वडइ केवि दियहडा विलम्वु
घण-पत्तलु छाया वहुलु फुल्लहि जाम कयम्वु॥

हे भौरा! यहाँ, भी, नीवडी मे, कुछ दिन, विलव कर, घने पत्तोवाला, वहुत छाया वाला, फूलै, जव तक कदंव। एत्थं—पजावी इत्यु, इत्थै, स० अत्र, दियहडा—दिवस, पत्तलु—पत्तेवाला, जाम—यावत् देखो ८१, ६८।

(७४)

पिय एम्वहि करे सेल्लु करि छड्डहि तुहु करवालु।
ज कावालिय वप्पुडा लेहि अभग्गु कवालु॥

हे प्रिय! अव, कर मे, सेल, करो, छोडो, तुम तरवार, ज्यो कापालिक, वापुरे, लेवे, अभग्न (=अखडित) कपाल। तुम्हारे खड्ग से शत्रुओ के सिर फट जाते है, कापालिको को सावत खप्पर नही मिलते इसलिये तुम सेल से मारो जिससे खोपडी सावत तो मिले।

(७५)

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि।
ज अच्छइ त माणिअइ होसइ करतु म अच्छि॥

दिवस, जाते है, झटपट से, पडते हैं, मनोरथ, पीछे, (= निष्फल जाते है), जो है, वह भोगा जाय, 'होगा' (यों) करता (हुआ), मत, (बैठा) रह। दिन जाते है, जो है उसे भोगो, भविष्य के भरोसे मत रहो। अच्छइ—बँगला आछे, राजस्थानी छै। माणिअइ—देखो प्रवध १४, पत्रिका भाग २ पृ० ४६, होसइ—देखो प्रवध ३, (पत्रिका भाग २, पृ० ३५), कुमार २३, (पत्रिका भाग २ पृ० १४६)।

(७६)

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो वलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुण्डियउ जसु खल्लिहडउ सीसु॥

होते हुए भोगो को, जो, छोडता है, उस (की), कात की, बलि की जाय (उसकी वलिहारी जाइए), उसका, दैव ने, ही, मूंड दिया है, (सिर), जिसका, गजा (है) सीस। गजा कहे कि मैने सिर मुडाया तो क्या? 'विना मिलती के ब्रह्मचारी' सभी वन वैठते हैं। जो होते हुआते भोग विलासो को छोडे उसकी वलैया लीजै। सन्ता—वर्तमान धातुज, कीसु—मैं करूँ (हेम०), तू, कर, खल्लिहडउ—खलति, खल्वाट (सस्कृत)।

(७७)

अइतुगत्तणु ज थणह सो च्छेयहु न हु लाहु।
सहि जइ केवँइ तुडिवसेण अहरि पहुच्चइ नाहु॥

अति तुगत्व (ऊँचापन), जो स्तनो का (है) सो छेवा (= टोटा, घाटा) (है) न, तो, लाभ, सखि! यदि, किसी त्रुटि वश से, अधर पर, पहुँचता है, नाथ। ऊँचे स्तन चुवन मे आडे आते हैं। छेय छेकना छेवा = कमी, केवइ—किसी से, कुछ से, त्रुटि, विलव, पहुच्चइ स० प्रभवति (?) समर्थ होता है (दोधकवृत्ति), हिंदी 'पहुँचना' इस व्याख्या मे अधिक उपयुक्त है।

(७८)

इत्तउँ ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि।
तो हउ जाणउँ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि॥

इतना, बोलकर, शकुनि, ठहरा, पुनि, दुःशासन, बोला--तो, हौं, जानूँ, यह हरि (है), यदि, मेरे, आगे, बोले। किसी पुराने महाभारत से। इत्तउँ—एतो, ओप्पिण--पूर्वकालिक, ओप्पि--पूर्वकालिक, दोनो जगह (!), 'टिठ्उ'--जोडो अर्थात् बोल कर ठहरा (दोधकवृत्ति)। टिठ्उ--स्थित, ठयो।

(७९)

जिव तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि ~छोल्लिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु॥

जिमि तिम (ज्यो त्यो), तीखे (शस्त्र) लेकर, किरणो को यदि, शशी छीला जाता, तो, यदि, गोरी के, मुखकमल से, सदृशता, कोई भी (कुछ कुछ), पाता (तो पाता)। तिक्खा—केवल विशेषण, विशेष्य गुप्त, कर,–ससि,–विभक्ति की बेकदरी से धोखा होता है कि छोलिज्जन्तु का कर्म ससि है या कर, छोल्लिज्जन्तु—कर्मवाच्य की क्रियातिपत्ति, छीला जाय, कर्मवाच्य का 'ज', मिलाओ 'छीलना का गँवारी रूप छोलना' इसी से छोला = हरा चना, जइ = जगति (!! जगत् मे—दोधकवृत्ति), सरिसिम–सदृशता, सं० का इमनिच् मिलाओ कुमार (२१, पत्रिका भाग २, पृ० १४५) लहन्तु-क्रियातिपत्ति।

(८०)

चुडुल्लउ चुण्णीहोइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल जाल झलक्किअउ वाह-सलिल-ससित्तउ।

अर्थ के लिये देखो कुमार २३ (पत्रिका भाग २, पृ० १४६)। आग पर तपाने और ऊपर से पानी की छींट पडने से दाँत की चूडी दरक जायगी।

(८१)

अब्भड वचिउ वे पयइ पेम्मु निअत्तइ जावँ।
सव्वासण रिउ सभवहो कर परिअत्ता तावँ॥

(१) अभ्रवाली (रात्रि) मे, चलकर, दो, पैड, प्रेम, निबहाती (पूरा करती) है, ज्यों, (अभिसारिका) सर्वाशन (सर्वभक्ष = अग्नि) के रिपु (सागर) के सभव (पुत्र) अर्थात् चद्रमा के, किरण, पसर गए, त्योही। काली बादलो से घिरी रात मे प्रेयसी चली थी कि चद्र ने सहायता की (समाधि) या (२) उलटे, चलकर, दो पैड प्रेमिका को लौटाता है (प्रवासी)। ज्यो, चद्रमा के कर, फैल गए त्यो ही। प्रिया पहुँचाने आई थी प्रवासी ने उसे लौटाना चाहा। इतने मे चदा उग आया। फिर वहाँ का जाना आना? अब्भड।

अभ्रड, मेरशाला, या अभ्यट्य लौटकर, वंच-ठग, चलना, बे-दो, पगइं-पद, नियत्तइ, निवर्तयति या निवर्तयति जावँ तावँ-यावत् तावत्, परिप्रत्ता-फैने। दोधकवृत्तिकार ने इसके अर्थ मे बहुत गोते खाए हैं--अब्भड-पीछे चलकर, वंचिउ-ठगकर या ठगा गया, 'प्रिया लौटाती है प्रिय को' इत्यादि।

(८२)

हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु।
वासा रत्ति पवासुअह विसमा सकडु एहु॥

हिए मे, खटकती है, गोरी, गगन मे घडकता है, मेह, वर्षा (की) रात (मे) प्रवासियो की विषम-सकट (है) यह। विसमा से जान पडता है कि संकड एकवचन नही है। पवासु--इन् के अर्थ मे उ' (उण्)।

(८३)

अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे सम्मुह थन्ति।
महु कन्तहो समरङ्गणइ गयघड भज्जिउ जन्ति॥

अम्मा! (मेरे) पयोधर, वज्र के से, (हैं) नित्य, जो, समुख, ठहराते मेरे, कत के, (जिससे) समरागण मे, गज घटा, भाग कर, जाती हैं। वज्जम--वज्रमय, भज्जिउ--भागने का ग्रामीण भाजना देखो ऊपर (६४)।

(८४)

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

देखो पत्रिका भाग २, पृ० १६। पुत्तेजाएँ-भावलक्षण, पुत्र जाए, जन्मे से, मुएण मुए से, जा-जिसकी, वप्पी की वपोतो की, भुहडी-भूमि, देखो प्रबंध (१) टिप्पणी चम्पिज्जइ-चंपीजै, कुचली जाय, दबाई जाय, मिलाओ पगचंपी = पर दबाना।

(८५)

त तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारू।
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठअइ आसारू॥

वह, तितना, जल सागर का, सो, तितना, विस्तार, तृषा का निवारण, पल भी नही पर, दहाडता है, असार। तेतिउ=तेतो, तेवडु--तेवडो (गुजराती), तिम-राजस्थानी तिस, तृषा धुट्ठअइ--अनुकरण, गर्जता है। मिलाओ, राजशेखरसूरि के चतुर्विंशतिप्रबंध से--

वरि वियरो जहिं जलु पियइ घुट्टुग्घुट्टु चुलुएण ।
सायरि अत्थि वहुय जल छि खारउ किं तेण ॥

वरि–वर, अच्छा, वियरि–राजस्थानी बेरा कुआ, चुलुएण–चिल्लू से, अत्थि–है।

(८६)

ज दिट्ठउँ सोमग्गहणु असइहि हसिउ निसकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयकु ॥

जो, दीठो, सोम (चद्र) ग्रहण, (तो) असतियो से, हँसियो (हँसा गया), नि शक, पिय-मानुसो (के) विछोह कर (ने वाले) को निगल, निगल, राहु मयक को। विच्छोहगरु विछोहकर, नेपाली मे 'करना' धातु का 'गरना' हो गया है 'क' रहा ही नही, 'ग' है, 'प्रकट' को शुद्ध करके प्रकट लिखनेवाले ध्यान दें।

(८७)

अम्मीए सत्थावथेहि सुधिं चिन्तिज्ज माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ? ॥

अम्मा! स्वस्थ अवस्था (वालो) से, सुख से, चीता जाता है, मान। पिया दीठे पर, हलवली, से कौन चेतता है, अपान को? स्वस्थ बैठे हो तब मान गुमान की सूझती है, पिया को देखते ही ऐसी हलवली मचती है कि अपनी सुध भी जाती रहती है, बेचारे मान की क्या चलाई? सुधि-सुखि, सुख से, पिए दिट्ठे-भावलक्षण।

(८८)

सवधु करेप्पिणु कधिदु मइ तसु पर सभलउँ जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि नय पम्हट्ठउ धम्मु ॥

शपथ, करके कथित (कहा गया), मै (ने), उसका, पर, सफल जन्म (है), जिसका, न, त्याग, न, और आरभटी, न, और प्रभ्रष्ट (हुआ है) धर्म। सवधु, कधिदु-थ की जगह ध, सभलउँ-फ के स्थान मे भ, पम्हट्ठ-भ्र, के लिए म्ह। आरहडि-आरभटी, शूरवृत्ति। चाउ-त्याग, पम्हट्ठउ तीनो के साथ है, चाउ, आरहडि, और धम्म। दोधकवृत्ति का दूसरा अर्थ 'जिसके अपव्यय न हो, और धर्म भ्रष्ट नही हुआ' ठीक नही।

(८९)

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्ड करीसु।
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गें पइसीसु॥

यदि किसी प्रकार पाऊँगी प्रिय (को), (तो) न किया, कौतुक, करूँगी,
ानी, नए (मे), सकोरे (मे), ज्यो सर्वांग मे प्रविशूँगी (घुसूँगी)। नए मिट्टी के
रतन मे पानी की तरह रोम रोम मे रम जाऊँगी। पावीसु, करीसुं, पइसीसुं–
ंभावना, भविष्यत् गुजराती श, राजस्थानी स्यु। अकिया-अकृत, किसी ने
ो न किया हो, कुड्ड-कौतुक, राज० कोड, सरावि-स० शरावे।

(९०)

उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चणकन्तिपकासु।
गोरीवयणविणिज्जिअउ न सेवई वणवासु॥

ओ (=देख), कनियार, प्रफूला (है), काचन-कातिप्रकाश, गोरी-वदन-
वनिर्जित, नाईं (मानो) सेता है, वनवास। वन मे विकसित होने के कारण
ी उत्प्रेक्षा है। उअ–देख (प्राकृत), कणिआरु (स०) कर्णिकार (पजावी पहाडी)
नयार, अलमताश, पीले फूलो से लद जाता है। गोरी-देखो प्रवध० १४
पत्रिका भाग २ पृ० ४७) न-वेद का उपामावाचक 'न' बांध मे नही वँध सका
वाह मे चला आया।

(९१)

वासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु।
मायह चलण नवन्ताह दिवि दिवि गङ्गाण्हाणु॥

व्यास, महाऋषि, यो (यह), भणता (कहता) है, यदि, श्रुतिशास्त्र, प्रमाण.
हैं तो) माओ के, चरण, नँवतो के, दिन दिन, गगा-स्नान (है)। वास-व्यास,
स 'र के लिये मिलाओ शाप=स्राप, मायह-मातओं के, मातृ-मायि माय, माइ,
ाई, नवताह-नँवतो, नमतो, प्रणाम करतो के, दिविदिवि–वेद का दिवे दिवे
खो ऊपर (९०) मे न।

(९२)

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ।
नव वहु दसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ॥

क्यों (कर), समाप्त हो दुष्ट, दिन, कैसे, रजनी, झट, होय, नव वधू (के) दर्शन (की) लालसा (वाला), वहता है, (ऐसे) मनोरथ, सो (वह नायक) वहइ–धारण करता है, उठाए फिरता है। केम–गुजराती केम। छुडु–'छ' का 'झ' होने के लिए देखो ऊपर (८७), (८८) , झट।

(९३)

ओ गोरीमुहनिज्जअउ वद्दलि लुक्कु मियकु ।
अन्नु वि जो परिहवियतणु सो किवँ भवँवर निसकु ॥

यह गोरी (के) मुँह (से) निर्जित, वादल मे, लुका (है) मयक अन्य, भी जो, परिभूत (हारे हुए) तनु (का), (है), सो, किमि, भ्रमै, निसक। हारे हुए मुँह लुकाए फिरते है। परिहविय-परि+भू=हारना (सं०) 'भू' का 'हो' ।

(९४)

विम्बाहरि तणु रयणवण किह ठिउ सिरि आणन्द ।
निरुवम रसु पिएँ पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द ॥

विंवा (फल के से अधर पर का, रदन (दंत) व्रण, कैसा स्थित, (हुआ), श्री आनंद ? निरुपम, रस, पिय ने, पीकर जनु शेप (रस) के, (=पर), दीनी, मुद्रा। अधर पर दंतक्षत क्या हैं, मानो अनुपम रस पीकर, पिया ने वाकी पर अपनी मुहर लगा दी है। विम्वाहरितणु—'विंवाधर पर, तन्वी के' यह अर्थ करने की कोई आवश्यकता नही, 'तणु तण या तणो' सवध, सूचक प्रत्यय हैं 'विंवाधर-पर-का-रदन व्रण' यही अर्थ है। ठिउ–थियो, थो, था। सिरि आणन्द–संबोधन है तो किसी का नाम। सभवत. कवि 'का, या रदनव्रण का विशेषण। सेसहो–हो को लघु पढो।

(९५)

भण सहि निहुअउ तेवँ मइ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअ तासु ॥

सखी नायक की शिकायत कर रही है। मुग्धा कहती है—कह, सखि! निभृत (गुप्त), त्यो मुझे, यदि, प्रिय, दीठा (है), सदोष, ज्यो, न, जानै, मुझका (मेरा) मन, पक्षापतित (=पक्षपाती), तिसका। मेरा मन उस (प्रिया) का पक्षपाती है, वह न जाने, उससे छिपा कर कह। अमरु के 'नीचैः शस, हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वर. 'श्रोषयति' का भाव है। 'उस दूसरे

के पास मे स्थित मेरा मन जैने न जाने' भर्ता-इनि गम्यते' (' ')
(दोधकवृत्ति) ।

(६६)

मइ भणिअउ बलिराय तुहु केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु नवि होई वढ सइ नारायणु एहु ॥

किसी वामनावतार की कथा से । शुक्राचार्य कहता है--मैं(ने) भणा, बलिराज, वलिराज, तू (तुझे), कैसा, मगन (याचक) यह, (है) जैसा, तैसा (= ऐसा वैसा), नही, होय, हे मूर्ख, स्वय, नारायण, यह (है) । वढ--मूर्ख मिलाओ वठ (हर्षचरित) । दोधकवृत्ति कहती है कि उत्तरार्द्ध राजा वलि का उत्तर है ।

(६७)

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थुवि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थुवि तेत्थुवि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥

यदि, सो, घडे, प्रजापति, कही (से), भी लेकर, शिक्षा, जहाँ भी, तहाँ भी इसमे, जग मे, कह, तो, उस (नायिका) का सरीखा ? । केत्थु, जेत्थु, तेत्थु, इत्थु, कुत्र यत्र तत्र अत्र (सं०), कित्थुं जित्थुं तित्थुं इत्थुं (पुरानी पजावी), कित्थें जित्थें तित्थें एत्थें (पंजाबी) । चौथे चरण का पाठ सभव है यह हो—'भण को तहे सारिक्खु'—कह कौन उस (का) सरीखा है ?

(६८)

जाम न निवडइ कुभयडि सहीचवेडचडक्क ।
ताम समत्तह मयगलह पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥

जौं (लो), न, (नि), पडनो है, कुभतट पर, सिह (की) चपेट (की) चटाक, तो (लो), समस्तो, मदकलो, (गजो) के, पद पद, वाजै ढक्का । सिह की चपेट लगने तक सिर पर नगारे वजते है । चडक्क--अनुकरण, ढक्का --एक वाजा ।

(६९)

तिलह तिलत्तणु ताउं पर जाउं न नेह गलन्ति ।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति ॥

तिलो का तिलपन, तो (लो), पर, जौ (लो), न, नेह, गलता है, या गलाते हैं, नेह, प्रनष्ट (होने) पर वे हो, तिल, तिल, (से), फिट कर, खल, होते हैं। नेह के दो अर्थ—चिकनाई और प्रेम, खल के दो अर्थ, खल और दुर्जन। नेह निकला कि खल हो गए। दोधकवृत्ति ने नेह को वहुवचन 'गलन्ति' का कर्ता माना है, अधिक सभव है कि 'तिल' कर्ता हो और 'नेह' कर्म। तेज्जि—तेईज (गुज० मारवाडी) देखो प्रवध १७ (पत्रिका भाग २, पृ० ४६), फिट्टवि—फिट्—विगडना, भ्रष्ट होना, मिलाओ फिट मुए, (ऊपर, ५४) फटना से पट् या पाट् से है, फिट् भ्रश् (भ्रष्ट होने से)।

(१००)

जामहि विसमी कज्जगइ जीवहि मज्झे एइ।
तामहि अच्छउ इयरु जणु सुअणुवि अन्तरु देइ॥

जब विषम कार्यगति, जीवो के, मध्य मे, आती है, तव रहो, इतर जन, स्वजन, भी अंतर, देता है। इतर जन तो अलग रहा, स्वजन भी किनारा कसता है। जामहिं तामहिं, जाऊँ ताउँ (९८) जाम ताम (९९) यावत् तावत् मज्झे—माझे माँझ मे, मध्ये। अच्छउ—आछो, हो, उसको तो वात ही क्या।

(१०१)

जेवडु अन्तरु रावण रामह तेवडु अन्तरु पट्टण गामह।

जितना, अतर रावण-राम (का) तितना, अतर, पट्टन (नगर) (और) गाँव का। जेवडु तेवडु—जेवडो तेवडो (गुज० राज०) जितना तितना। किसी रावण पक्षपाती की उक्ति। दोधकवृत्ति के अनुसार ग्राम पट्टण का क्रम बदलने की आवश्यकता नही।

(१०२)

ते मुग्गडा हराविआ जें परिविट्ठा ताहँ।
अवरोप्परु जोअन्ताह सामिउ गञ्जिउ जाहँ॥

वे, मूँग हराए गए (अकारथ गए), जो परोसे गए, उनके (उन्हें) नीचे ऊपर, जोहते हुओ के, (जिनके) स्वामी, गँजा गया, जिनका। इधर 'मूँग परोसना' वडे आदर और उत्सव की बात है। जँवाई आता है या त्योहार होता है

मूंग चावल बनते है । जिन कायरो के इधर उधर देखते देखते स्वामी पिट गया उन्हें मूंग परोसना वृथा है, मूंग बरबाद करना है। राजशेखर सूरि (स० १४०५) के चतुर्विशतिप्रबंध मे यह गाथा रत्नश्रावक प्रबंध मे कही गई है जहाँ एक राजकुमार दूसरो की रक्षा के लिये प्राण देने को तैयार होता है। मुग्गडा—मूंग, डा के लिये देखो प्रबध (१) हारविग्रॉ, हारना—वृथा खोना, परिविट्ठ—परिविष्ट, परोसा, अवरोप्परु—अवर + उप्पर, नीचे ऊपर इधर उधर, देखते या हुए ऊँच नीच विचारते हुए, दोधकवृत्ति के अनुसार 'परस्पर'। जोअन्ताह—देखो ऊपर (७) जोअतिए। गंजिउ—गँजना, पिटना, मारा जाना।

(१०३)

बम्भ ते विरला केवि नर जे सव्वङ्ग छइल्ल।
जो वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते बइल्ल ॥

हे बभा, या बभ कहता है कि, वे, विरल, कोई भी, नर, (होते है), जो, सर्वांग (= सब तरह), छैले, होते है, बाके (होते हैं), वे, वचक (होते है), जो, ऋजु (= सीधे), वे बैल। सब तरह चतुर विरल होते हैं, बांके तो ठग और सीधे बैल। बंभ—ब्रह्म, कवि का नाम, प्राकृत पिंगलसूत्र के कुछ उदाहरणों पर किसी किसी टीकाकार ने लिखा है कि बभ (ब्रह्म) बदी या भाट के लिये आता है जैसे हरिबभ अर्थात् हरि नामक बदी,—ब्रह्मभाट ? छइल्ल—देखो (पत्रिका भाग २, पृ० १४८), वक—वक्र (स०) युक्ताक्षर की 'न' श्रुति, वञ्चयर 'वञ्चकतर' मानने की जरूरत नही, अर अयर कर्तृवाची प्रत्यय है, उज्जुअ ऋ की उ—श्रुति।

(१०४–१०५)

अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु त भुअजुअलु ।
अन्नु सु घण थणहारु त अन्नु जि मुहकमलु ॥
अन्नु जि केसकलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि।
जेण निअम्बिणि घडिअ स गुणलायण्णनिहि ॥

अन्य, वे, दीर्घ लोचन, अन्य, वह, भुजयुगल, अन्य, वह, स्तन-भार, वह, अन्य, वह, मुख कमल, अन्य, जो, केशकलाप, वह, (कहाँ तक कहें) अन्य, जो, प्राय, विधि, जिसने, नितम्बिनी (नारी), घडी, वह, गुणलावण्यनिधि । प्राउ (१०५), प्राइव (१०६), प्राइम्व (१०७), पग्गिस्व (१०८)—प्राय।

(१०६)

प्राइव मुहृणिहृवि भन्तडी ते मणिग्रडा गणन्ति ।
ग्रखइ निरामइ परमपइ ग्रज्जवि लउ न लहृन्ति ॥

प्रायः, मुनियो की (भी), भ्राति (होती है), वे, मनके, गिनते हैं, अक्षय, निरामय, परमपद मे, ग्राज भी, लय, नही, लहते। 'मनका फेरत जुग गया' (कबीर), मणिग्रडा—मणिक, मनके 'ड' कुत्सा मे।

(१०७)

ग्रमुजलें प्राइम्व गोरिग्रहे सहि उव्वत्ता नयणसर।
ते सम्मुह सपेसिग्रा देन्ति तिरिच्छी घत्त पर ॥

अश्रुजल मे, प्राय गोरी के हे सखि !, ग्रौटे (है), नयनशर, वे, समुख, सप्रेपित (भले ही हो), देते हैं, तिरछी, घात, पर। अश्रुजल मे वुझाए हुए हैं न—चाल शीधी है पर मार तिरछी। उव्वत्ता—उदवृत्त, उवटे, ग्रौटे। दोधकवृति 'नयन सरोवरो' (!) को अश्रुजल मे 'उल्लसित' वताती है।

(१०८)

ऐसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइं ग्रणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइ दुक्करु दइउ करेइ ॥

ग्रावेगा, पिय, रूसूंगी, हौ, रूठी (को), मै (को), ग्रनुनय करेगा (मनावेगा वह) प्रायः इनको, मनोरथो (को), दुष्करो (को), दयिता, करै। मन के लड्डू खाती है। एसी—स० एष्यति, राज० ग्रासी, रूसेसु—प्राकृत मतेसु, पुरानी हिंदी हनिसो, राज० करस्यूं, गुज० करोश, दुक्करु—इसलिये कि पूरा होना वियोग के कारण कठिन है।

(१०९)

विरहानलजालकरालिग्रउ पहिउ कोवि वुड्डिवि ठिग्रग्रो ।
ग्रनु सिसिरकालि सीग्रलजलउ धूम कहन्तिहु उट्ठिग्रग्रो ॥

विरहानल (की) ज्वाला (से) करालित पथिक, कोई, डूबकर स्थित (है) नही तो शिशिरकाल मे शीतलजल से धुग्राँ कहाँ तें, उठा ? । जाडे मे पानी पर भाफ उठती देखकर उत्प्रेक्षा। करालिग्रउ—करालियो, दग्ध, देखो ऊपर (पत्रिका भाग २, पृ० १५०), पहिउ—मारवाड़ पही,

'पावणो पहीं' = पाहुना और पथिक, ठिअउ–टिओ, ठयो, उट्ठिअउ—उठियो, उठ्यो ।

(११०)

महु कन्तहो गुट्ठट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति।
अह रिउरहिरें उल्हवा अह अप्पणें न भंति ॥

मेरे, कंत के, गोष्ठस्थित के, क्यो झोपडे जलते हैं, या रिपु-रुधिर से, बुझाता हैं, या अपने से, ने भ्राति (है इसमे) कत 'गोहर' सम्हालते गया है, पीछे शत्रुओ ने झोपडे जला दिए, उसकी जात से तो यही उम्मेद है कि मारेगा या मरेगा। अह अह अथ, अथ,––या•••या, गुट्ठ–गोप्ठ, गुसाँई जी का 'गाइ गोठ', उल्हवइ–उल्हावे, वुझावे ।

(१११)

पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइ विन्निवि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥

पिय (के) संगम मे, कहाँ नीद, पिय के, परोक्ष मे, क्यो (कर नीद) ? मैं, दोनो ही (तरह) से, विनाशिता (हुई), नीद, न, यो, न त्यो । केम्व, एम्व, तेम्व क्यो, यो, त्यो, किमि, इमि, तिमि, केवे , एवें, तेवें. (पजावी) मे एवे है।) मइ विन्निवि विन्नासिआ–दोधकवृत्ति 'मया द्वे अपि विनाशिते' !!

(११२)

कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु ।
सीहु निरक्खय गय हणइ पियु पयरक्खसमाणु ॥

कत, जो, सिंह (का=) से, उपमा दिया जाता है, तो, मेरा, खण्डित । (होता है), मान, सिंह, विना रक्षक (के), गज को, हनै पिव पदरक्ष समेत (गजो) को (हनता है) । जगल मे हाथी जिन्हे सिह मारता है नीरक्षक (विना रखनेवाले के) होते हैं रणभूमि मे उनके पैदल सिपाही रक्षक होते हैं, उन समेत हाथियो को मारनेवाले पिय को सिह की उपमा देना मेरा मान घटाना है । उवमिअइ –उपमीयते (स०), पयरक्ख–पद,-पियादा ।

(११३)

चचल जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं।
होसइ दिअहा रूसणा दिव्वइ वरिससयाइं ॥

चचल, जीवित, ध्रुव, मरण, (है) पिय, रूसा जाता है, क्यो ? होगे, दिवस, रूसने, दिव्य वर्षशत (की तरह लवे और असह्य)। रूसिज्जइ–रूसीजै, होसइ–होशे, होसी रूसणा, दिअहा का विशेषण, रूसने (के) दिवस।

(११४)

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जणकरपल्लवेहि दसिज्जतु भमिज्ज ॥

देखो सोमप्रभ (१ पत्रिका भाग २ पृ० १३९) माणि पणट्ठइ—मान प्रनष्ट होने पर (भावलक्षण), चइज्ज—छोडा जाता है (दोधकवृत्ति), किंतु भमिज्ज के साथ से चइज्ज भमिज्ज = तजीजै भमीजै होना चाहिए, दसिज्जतु–दिखाया जाता हुआ, दोधकवृत्ति के अनुसार 'दश्यमान' डसा जाता हुआ नही।

(११५)

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खलमेह म गज्जु।
वालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥

लोन, विलाता है पाणी से, अरे, खल मेघ ! मत, गरज, हे जलाए गए ! गलता है, झोपडा, गोरी, भीजती है, आज। स० लावण्य, हि० लौन (जैसे 'सलोना' 'नौना' मे) नोन, फारसी नमक, सौदर्य अर्थ मे आता है। अमरुशतक मे एक प्रक्षिप्त श्लोक है कि जब से प्रेमपियासे मैने उसका अधर पान किया तब से तृषा वढती ही जाती है, क्यो न हो, उसमे लावण्य है न ? नमक से प्यास वढती है। उसपर टीकाकार इस कल्पना की ग्राम्यता पर चुटकी लेता है कि वाह कवि क्या है कोई साँभर की खान का खोदनेवाला है ! यहाँ नमक 'पानी पडने से गलता है' यही लेकर उक्ति है कि दुष्ट मेघ, मत गरज, झोपडा गले जाता है, गोरी भीगती है, लवण (लावण्य) विलाता है, वस कर। लोणु–लवण और लावण्य, विलिज्जइ–विलीयते (सं०), वालिउ –वाल्या (राज०) गाली, दग्ध, तिम्मइ–(स०) 'तिम्, गीला होना, 'दोधकवृत्ति' दो अर्थ करके भी स्पष्ट नही हो सकी।

(११६)

विहवि पणट्ठइ वकुडउ रिद्धिहिं जणसामन्नु ।
किपि मणाउ महु पिग्रहो समि ग्रणुहरइ न ग्रन्नु ॥

विभव प्रनष्ट होने पर, वाँकुरा, रिद्धि मे, जन सामान्य, कुछ कुछ, मेरे पिय का, शशि, ग्रनुहरता (सदृश होता) है, न ग्रन्य । चद्रमा क्षीण होता है तो कलाएँ वाँकी होती है, पूर्ण होता है तो सामान्य गोल ग्रौर ताराग्रो का सा, मेरे पिया के सदृश वही है । पिया सपत्ति नष्ट होने पर ग्रकडते हैं ग्रौर सपत्ति मे नम्रता मे साधारण रहते है । विहवि पणट्ठइ—भावलक्षण, वकुडउ—वांकुडो वाकुरो, जण-समान्नु जन सामान्य (समास)—मणाउ —मनाक्, कुछ । दोधकवृत्ति 'सामान्यो लोक. ऋद्ध्या वक्री स्यात्' 'चन्द्रस्य तारका वक्रा भवन्ति मम प्रियस्य निर्धनस्य ग्रन्ये जना वक्रा भवन्ति' ग्रादि न मालूम क्या क्या लिख गई हैं ।

(११७)

किर खाइ न पिग्रइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रुग्रडउ ।
इह किवणु न जाणइ जह जमहो खणेण पहुच्चइ दूग्रडउ ॥

निश्चय खाय, न, पिए, न, भी, देवे, धर्म मे, न वेचे, रुपया, यहाँ, कृपण न जाने, जैसे, यम का, क्षण से (=मे), पहुँचै, दूत । किर–किल, वेच्चइ–व्ययति (स०)खर्च करे, इसी से वेचना, पहुच्चइ–प्रभवति (सं०) पहुँचे, रुग्रडउ, दूग्रडउ–रूपडो, दूतडो, दे० प्रवध (१) ।

(११८)

जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु ।
जइ ग्रावइ तो ग्राणिग्रइ ग्रह वा तं जि निवाणु ॥

जाईजै, उस(मे), देसडे (मे), (जहाँ), लभै (मिलै), पिय का, प्रमाण (पता), यदि, ग्रावे, तो ग्रानिए, ग्रथ वा, वह, जी, निर्वाण (माना जाय) । मिल जाय तो ले ग्राऊँ नही तो वही शाति मिले । जि-पादपूरण ।

(११९)

जउ पवसन्ते सहुँ न गयग्र न मुग्र विग्रोए तस्सु ।
लज्जिज्जइ सदेसडा देन्तेहि सुहयजणस्सु ॥

जो, प्रवास करते के, साथ, न, गया (गई) न, मुश्रा (मुई), वियोग मे, उसके (मैं अब) लजाती हूँ, सदेश, देती हुई, सुभग जन के (को)। पवसन्ते, देन्तेहि—वर्तमान धातुज। लज्जिज्जइ—लजीजै, लजाया जाता है, दिन्तेहि—देती हुई (हम) से।

(१२०)

एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि करिाअ नाहि ओहट्टइ॥

इत, मेह, पीते हैं, जल, इत, वडवानल, औटता है, पेखो, गभीरता, सागर की, एक भी, कनी नही, घटता। एत्तहे 'एत्तहे इतै, आवट्टइ—आवटै, औटे, गहीरिम—(स०) गभीरिमा इमनिच् के लिये देखो (ऊपर पृ० ४०५ पत्रिका भाग २, पृ० १४५), करिाअ—कणिका, कनी, ओहट्टइ—अवघटे। दोधकवृत्ति ने अर्थ के पहले 'हे नाथ' लगाया है, मूल मे तो यह पद नही जान पड़ता, सभव है उसके कर्त्ता के सामने मूल ग्रथ रहा हो जिसमे से यह उद्धृत है और वहाँ 'नाथ' की सगति (Context) हो।

(१२१)

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउ कइ पय देइ।
हिअड्र तिरिच्छी हउ जि पर पिउ डबरइ करेइ॥

जाओ, मत, जाते हुए का, पल्ला (पकड़ूं), देखूं, कै, पद, देता है (आगे), हिए मे, तिरछी, हाँ, जी, पर, पिय, (आ) डंबर, करै। मैं हृदय मे तिरछी, आड़ी, रास्ता रोककर खडी हूं, पिया जाने के आडवर करते हैं, जाना वाना कुछ न होगा, पल्ला वल्ला मैं नही पकडती, जाओ देखें कितने पैंड जा सकता है। पल्लवह—पल्ले को ?

(१२२)

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहि राह पओहरहं जं भावइ त होउ॥

हरि, नचाया, (प्र +) आँगन मे, विस्मय मे, पाडा (डाला) लोक, यों (अब) राधापयोधरो का (= को), जो भावे, सो, हो। जो ये चाहे सो करे, हरि को तो आँगन मे नचा दिया और क्या करेंगे ? नच्चाविउ—नचाव्यो, पाडिउ—पाड्यो; पातित (सं०), भावइ—भावै। दोधकवृत्तिकार न मालूम, 'वलिदैत्य ने हरि नचाया' कहाँ से ले आए।

(१२३)

साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस-गण्ठि ।
भडु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ॥

सर्वसलोनी, गोरडी, अनोखी, कोई, विस गाँठ है, भट, प्रत्युत, सो, मरे, जिसके, न लगे, कंठ में । और विसगाँठ तो गले लगने से मारती है यह न लगे तो मारे इससे अनोखी । सलोणी—सलावण्या (सं०) सलौनी, देखो (११४), गोरडी—वहारी का गोरटी, चोरटी, नवखी सं० नवका (नवकी !) पजावी नौक्खी, (अनोखी) भडु—भट देखो प्रव० (पत्रिका भाग २, पृ० ४७), पच्चलिउ—प्रत्युत (हेमचंद्र ८।४।४२०) । 'अनवूडे बूडे तेरे' का भाव है ।

(१२४)

मइ वुत्तउं तुहुं धुरु धरहि कसरेहि विगुत्ताइ ।
पइ विण्णु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइ ॥

मैं (ने), उक्त (कहा)—तू, धुर (को), धर (उठा), कसरो से, विगुप्तों (धुरो ?) को, तैं (तुझ), विना, हे धवल !, न, चढै, भर, यो (तू) खिन्न, क्यो ? धवल—धुर उठनेवाला धोरी बैल । अन्योक्ति है कि भार तू उठा, बछडो से क्या सरेगा ? धुर—आगे का भार, कसर—नट्ठे, छोटे बैल, विगुत्त—न उठती हुई ? धवल—जो जिस जाति में उत्कृष्ट हैं वह धवल (देखो पत्रिका भाग २, पृ० २६) तथा ऊपर ४०६ १० वुन्नऊ—वुन्नो, विपादयुक्त ।

(१२५)

एक्कु कइअह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइ मित्तडा प्रमाणिअउ पइ जेहउ खलु नाहि ॥

एक, कभी, भी, न, आवे, अन्य, जल्दी, जाय, मैं (ने), हे मित्र प्रमाणित किया, तैं, (ने), जैसा, खलु, नहीं । एक कभी आता नहीं, दूसरा जल्दी चला जाता है, मित्र जैसा मैंने पहचाना है वैसा तूने नहीं । अस्पष्ट । यह अच्छा अर्थ होता—एक मित्र तो कभी आता ही नहीं, दूसरा झटपट चला जाता है, हे मित्र, मैंने प्रमाणित किया है कि तुझ जैसा निश्चय कोई भी नहीं । वहिल्लउ—शीघ्र ।

(१२६)

जिवँ सुपुरिस तिवँ घघलइँ जिवँ नइ तिवँ वलणाइँ।
जिवँ डोंगर तिवँ कोट्टरइँ हिग्रा विसूरहि काइँ॥

ज्यो, सुपुरुप, त्यो झगडते हैं, ज्यो, नदी, त्यो, वलन (मोह), ज्यो डूंगर (पहाड), त्यो, कोतरे (खोह), हे हिया! विसूरता है, क्यो ? मित्रता मे झगडे होते ही है घँघलइ—घँघँलना=झगडना, धाँधल होना, विसूरना-हिंदी (पृ० १५१)।

(१२७)

जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउँ तडि घल्लन्ति ।
तह सखहँ विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमन्ति ॥

जो, छोडकर, रत्ननिधि (समुद्र) को, अपने को, तट पर, घालते (फैकते) हैं, उनको, शखो को, विटाल, पराए, फूंकते हुए भ्रमते (घूमते) हैं। अपना स्थान छोडने से विडवना होती है। छड्डेविणु—छाँडकर पूर्वकालिक, विट्टालु-अधम जन (दोधकवृत्ति) अस्पृश्यससर्ग (हेमचद्र), विटाल— बिगडैल, विटलना = विगडना, विटालना—वहकाना, फोडना, खराव करना।

(१२८)

दिवेहि विढत्तउँ खाहि वढ संचि म एक्कुवि द्रम्मु।
कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु॥

दैव से, दिया हुआ, खा, मूर्ख ! संचय कर, मत, एक भी द्रम्म कोई, डर, सो पडै, जिससे, समाप्त होवे, जन्म । विढत्त—अर्जित ? (दोध०), सौंपा, संचि—सचना (सचय करना) धातु पुरानी हिंदी और पंजावी मे है, द्रम्मु-एक सिक्का, दाम, द्रवक्कउ—द्रव को, डर दडवडी।

(१२९)

एकमेक्कउँ जइवि जोएदि
हरि सुट्ठी सव्वायरेण
तोवि द्रेहि जहिं कहिंवि राही
को सक्कइ सवरेवि पड्ढनयणा नेहिँ पलुट्टा॥

एक एक (गोपी) को, यद्यपि, जोहता, है, हरि, सुठि, सर्वादर से, तो भी, दीठ, जहाँ, कही भी राधा (है वही है) कौन, सकै, सवरण करने को, दग्ध

नयनो (को), नेह से पलोटो (को)। दोग्रकवृत्ति का अर्थ गडबड है। द्रेहि–दृष्टि, डीठ, सव्ररेवि––(स०) मवरीनु, दड्ढ––दग्ध, डाढे, नेहि, पाठातर, नेहें–नेह से, पलुट्टा––लिपटे, भरे

(१३०)

विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पट्ठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥

विभव मे, किसका, स्थिरत्व, यौवन मे, किसका, मराठापन (अहकार) है (तो भी) वह, लेख, पठाया जाता है, लगे, जो निचट । नायक का भरोसा नही, वैभव मे किससे आशा की जाय कि वह स्थिर रहेगा ? अपने यौवन का भी घमड नही कि वह खिच ही आवेगा, तो भी खडिता या प्रोपिता सोचती है कि ऐसा सदेसा भेजूं जो तीर की तरह चुभ जाय, चैठ जाय । थिरत्तणउं––स्थिरत्व, लेखडउ––लेखडो, निच्चट्ट––अत्यत गाढा ।

(१३१)

कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं वरिहिणु कहिं मेहु ।
दूरठिआहवि सज्जणह होइ असड्ढलु नेहु ॥

कहाँ, शशधर (चद्र), कहाँ, मकरघर (समुद्र), कहाँ, मोर, कहाँ; मेघ, दूर-स्थितो, के भी सज्जनो के, होय, असाधारण, नेह। वरिहिणु––सं० वर्हि, वरहि (तुलसी), असड्ढलु––स० असस्थुल (?)

(१३२)

कुजरु अन्नह तरुअरह कुड्डेण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिं सल्लईहिं जइ पुच्छह परमत्थु ॥

कुजर, अन्यो (पर), तरुवरो पर, कोड से, घालै हाथ, मन, पुनि एक ही (पर), सल्लकी पर, यदि, पूछो, परमार्थ। कुड्ड––कौतुक विनोद, देखो ऊपर (८९) ।

(१३३)

खेड्डयं कयमम्हेहिं निच्छय किं पयपह ।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥

खेल, किया (गया), हमसे, निश्चय, क्या, प्रजल्पते (कहते) हो (कहैं) ?

अनुरक्तो (को) भक्तो को, हमे, मत, तज स्वामी। अनुष्टुभ् छद। खेड्ड--खेल साडे खेडण दे दिन चार (पजावी गीत) पाठातर मे 'अणुरत्ताओ भत्ताओ' है॥

(१३४)

सरिहिं (न) सरेहिं न सरवरेहि न वि उज्जाणवणेहि।
देस रवण्णा होन्ति वढ निवसन्तेहि सुअणेहिं॥

सरि (ता) ओ, सरो से, न सरवरो से, न, भी उद्यान वनो से, देस, रमणीय, होते हैं, मूर्ख (किंतु होते हैं), (नि) वसते हुए, स्वजनो से। रवण्ण--रमणीय, रम्य, वढ--देखो (४३, १२८, आदि)।

(१३५)

हिअडा पइ एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउ भडय ढक्कारि सार॥

हिअडा! तै (ने) यह, बोला, मुझ आगे, सौ वार, फटूँगा, पिय (के), प्रवास करते (ही), हौं, हे भड, हे अद्भुत दृढतावाले! (अब तो तू नही फटा!) हिअडा--हे हिय, पइ--मध्यमपुरुष, फुट्टिसु--फुटिस्यो, पिएपवसन्ति--भावलक्षणा, भडय--पाखडी, ढक्कारिसार--ढकर गया, निकल गया है सार, बल जिसका। अर्थात् छूछा (दोधकवृत्ति) किंतु अद्भुत सार (हेमचद्र)।

(१३६)

एक कुडुल्ली पचहि रुद्धी
तह पचह वि जुअजुअ वुद्धी।
वहिणुए त घरु कहि किव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउ अप्पण-छन्दउ॥

एक, कुटी, (शरीर) पाँच (इद्रियो) से, रुँधी गई (रुकी), तिन्ह, पाँचो की, भी, जुदी जुदी! बुद्धि (है), बहन! वह, घर, कह, किमि, नन्दै (प्रसन्न हो), जहाँ, कुटुब, आप--छदा (हो)? कुडुल्ली--कुटी का कुत्सा या अल्पार्थ, जुअजुअ--जुगजुग न्यारी न्यारी, अप्पणछद--आपमुहारा अपने अपने मत के, 'खसम पूजते देहरा भूतपूजिनी जोय। एकै घर मे दो मता कुसल कहाँ ते होय'॥

(१३७)

जो, पुणि मणि जि खसफसिहूअउ चिंतइ देइ न दम्मु न रूअउ।
रइवसभमिरु करग्गुल्लालिउ घरहि जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ॥

जो, पुनि, मन ही मे, घुमफुमाता हुआ, गिनता है, देय न, दम, न, रुपया रनिवम (से) भ्रमण करनेवाला, (वह), कराग्र-उन्लालित, घर मे ही, जी, कुत, गुणता है, वह मूर्ख ।। जो सदा व्याकुल रहे, पैसा न खरचै, वह घर बैठे ही माला घुमाया करता है, मन के लड्डू फोडता है । खसफसिहूअउ–व्याकुल, द्रमु–द्रम सिक्का, दाम रूअउ–रूपक, चाँदी का सिक्का, रइ–रति, मन की लहर, भमिरु–भरमता हुआ, उल्लालिउ–उल्लालित कोन्तु–कुत, भाला, गुणइ–गुणै न्नालिउ–दुर्लालित, दुर्ललित; मूढ ।

(१३८)

चलेहि चलन्तेहि लोअणेहि जे तइ दिठ्टा बालि ।
तहि मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ।।

(च) चलो से, चलते हुओ से, लोचनो से, जो, तैं (ने), दीठे, हे बाले ! उनपर, मकरध्वज, (कामदेव), दडवडा कर, पडै, अपूरे (ही) काल मे, या (दोधकवृत्ति के अनुसार) उन पर मकरध्वज का दडवडा (धाडा) पडता हैं अपूरे काल मे ही । उनपर दिन दहाडे डाका पडता है, वे बेमौत मारे जाते हैं, जिन्हें तैंने चचल नयनो से देखा । दडवडउ–अच (!व) स्कद कटक धाटी (दोधकवृत्ति) धाडा, अपूरइ कालि–अपूर्णे काले ।

(१३९)

गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं ।
जसु केरएं हुकारडएं मुहहु पडन्ति तृणाइं ।।

गया, वह, केसरी, पिओ, जण, निश्चिन्त, हरिण, जिसके, केरे, हुंकार से, मुंह से (तुम्हारे) पडते हैं, तृण । जिसके हुकार के सुनते ही मुंह से तृण पड जाया करते हैं वह सिंह गया, अब निःशक जल पिओ । जसु केरए–ध्यान दीजिए कि जसु (यस्य) मे षष्ठी की विभक्ति सु या उ अलग है, केरएं विशेषण की तरह 'हुकारए' से लगन रखता है, केर विभक्ति नही है जिसे जसु से सटाया जाए । जसुकेरएं हुकारडए—यस्स केरकेण हुंकारेण, केर = केरा । यह 'का की के' का बाप कहा जाता है किंतु यह स्वयं ही विभक्ति नही है और न सट सकता है । फिर इसके बेटे पोते कैसे सटाए जा सकते है ? इससे मिलता एक मारवाडी प्रसिद्ध दोहा है ।

जिण मारग केहरि वुवो रज लागी तिरणाह ।
ते खड़ ऊभी सूखसी नहो खासी हरिणाह ।।

जिस मार्ग से सिंह गया रज लगी तृणों को वे खडे ही खडे सूखेंगे हरिण नहीं खावेंगे ।

(१४०)

सत्थावत्थह आलवणु साहुवि लोउ करेइ ।
आदनयह मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥

स्वस्थावस्थो का (से), आलपन, सवही लोग, करे, आर्तो को 'मत डर' ऐसी अभयवाणी, जो, सज्जन (हो) वही, दे। आलवणु–आलपन, वातचीत (देखो ४८), साहु–सहु, सव, सो, आदन्नह–? आपन्नहुँ, आपन्नो, आर्तो को मब्भीसडा—मत डर 'मा भैषी' इस वाक्य से वनाई हुई, संज्ञा-स्वार्थ मे 'डी' ।

(१४१)

जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्धसहाय ।
लोहे फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ तवि ॥

यदि, रचना है, तु, जो दीठा उसी मे, हे हिय ! मुग्धस्वभाव ! लोहे से, फूटनेवाले से, ज्यो, घने सहे जायँगे, ताप (तुम से)। (या सहेगा ताप तू), जो दीखा उसी मे रमने लगेगा तो ठूटनेवाले लोहे की तरह घड़ी घडी खूब तपाया जायगा तव कही एक जगह जमकर प्रेम करने मे दृढता सीखेगा। रच्चसि—रज़ता है, प्रेम करता है, जाइट्ठि अए—जो जो+दीठा उसी मे फुट्टणएण फुटनेवाले से, सहेसहि=कर्तृवाच्य कर्मवाच्य का धोखा होता है।

(१४२)

मह जाणिउँ वुड्डीसु हउ प्रेमद्रहि हुहुरुत्ति ।
नवरि अचिन्तिय सपडिय विप्पिय नाव झडत्ति ॥

मैं (ने) जान्यो (जाना), वूडूंगी हौं, प्रेमदह मे, हुहुर यो, न पर अचितित आपतित हुई (आ पडी), विप्रिय (रूपी), नाव झट। प्रेम इतना था कि मैं दह के समान उसमे डूव जाती किंतु उसमे से मुझे वचाने को विप्रियरूपी नाव झटपट मिल गई। वुड्डीसु—वूडूंगी, (देखो पृ० ३२) हुहुरुत्ति—अनुकरण, डूवते समय, सांस, के वुलवुले उठने का, या घवराने का, नवरि–संस्कृतछायावालो का, 'केवल' ही नही, वरन्,

सपडिय—सयोग से आ गई, विप्पियनाव–विप्रिय रुमना या वियोग वेडा। (दोधकवृत्ति)।

(१४३)

खज्जइ नउ कसरक्केहि पिज्जइ नउ घुण्टेहि।
एवइ होइ सुहच्छडी पिए दिट्ठे नयरोहि॥

खाया जाता है, न तो, कसरको से, पीया जाता है; न तो, घूंटो से यो ही, होय, सुखस्थिति, पिय, दीठे (पर) नयनो से। खाने पीने की भी तो तृप्ति नही होती किंतु कोई अनिर्वचनीय सुख मिलता है। खिज्जइ–खाईजै पिज्जइ—पीईज कर्मवाच्य, कसरक्क–बडे बडे ग्रास, इचके, (देखो पृष्ठ ४०२), एम्वइ—यो ही या ऐसा होने पर भी (दो० वृ०), सुहच्छडी—(सुख + अस्ति)पना, 'डी' से नाम बनाया गया (दे० ३७, ६१, १४०)या सुखाशा (दो० वृ०), पीएदिट्ठे—भावलक्षण।

(१४४)

अज्जवि नाहु महुज्जि घर सिद्धत्था वन्देइ।
ताउजि विरहु गवक्खेहि मक्कडुघुग्घिउ देइ॥

आज भी (अभी), नाथ, मेरे ही, घर, सिद्धार्थो, को, वदना करता है, तो भी, विरह, गवाक्षो (जालियो) मे से बदर घुडकी, देता है। अभी नाथ परदेश गए, नही है, घर ही मे है, यात्राकाल के मगल द्रव्यो को सिर से लगा रहे है। तो भी विरह समझ गया है कि मेरा मौका आ गया। अभी वह सदर दरवाजे से तो घुस नही सकता, जाली के मोखो मे से मानो बदर-घुडकी दिखा रहा है। अज्जवि, महुज्ज, ताउजि—मे वि और जि कितना जोर दे रहे हैं। सिद्धत्वसिद्धार्थ पीली सरसो मगल शकुन, गवक्ख-गवाक्ष (स०) पुरानी चाल की जालियो के छेद बिलकुल गौ की आंख के से ही होते है इसी से हिंदी गोखा–दरवाजे पर का झरोखा, मक्कडघुग्घि—बदर घुडकी, घुग्घिउ = चापल्य (!) (दोधकवृत्ति)।

(१४५)

सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मनिअडा न वीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस॥

सिर पर, जीर्ण, लोई, गले मे, मनके, न, बीस, तो भी, गोठ के निवासी

(युवक) कराए, मुग्धा ने ऊठवैट। सिंगार की पूँजी तो यही है कि पुरानी कमली और गले मे पूरे वीस मनकों की माला भी नही, तो भी लावण्य ऐसा है कि गाँवभर के छैलो को ऊठकवैठक करा रही है। जरखण्डी—जीर्ण और खण्डित, लोअडी-लोई, कवल, मणिअडा—कुत्सा का 'ड', गोट्ठडा—गोठ के लिये देखो (११०) गाँव के वाहर गोस्थान जहाँ युवक ही इकट्ठे होते हैं, गोट्ठडा —वहाँ के निवासी, उट्ठवईस—गुजराती वेसना = वैठना।

(१४६)

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि।
घइ विवरीरी वुद्धडी होइ विणासहो कालि॥

अम्मा! पछतावा (है), पिया, कलहित किया, रात्रि मे, अवश्य, विपरीत, वुद्धि, होय, विनास के, काल मे। मान करके पछताती है। अम्मडि-बुद्धडी—स्वार्थ मे डी, या मे अनुकपा, पच्छायावडा—यहाँ भी पश्चात्ताप के आगे डा है, कलहिअउ—कलहिओ, कलहापित (देखो ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० ५०७), विआलि-देखो कुमार० (१८, ना० प्र० पत्रिका, भाग २, पृ० १४४), ऊपर (६२), घइ—हेमचद्र ने अनर्थक कहा है, पादपूरण या अवधारण अर्थ है।

(१४७)

ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिं देसि।
हउ झिज्जउ तउ केहिं पिअ तुहु पुणु अन्नहि रेसि॥

ढोला! यह परिहास ऐ! कह, किस मे, देश मे (है)? हौं, छीजूँ तेरे लिये, पिय! तू, पुनि, अन्य के लिये। मिलाओ (५५)। यह कौन से देश की चाल है? ढोल्ला—देखो (१), परिहासडी—मजाक, हँसी, या परिभाषा (दोधकवृत्ति), अइभन—दोधकवृत्ति एक शब्द मानकर अर्थ किया है अत्यद्भुत। हेमचद्र मे भी अइभन' प्रधान पाठ मना है। झिज्जउं—झीजना, झीना होना, सूखना, तउकेहिं—तेरे लिये, रेसि—वास्ते (हेमचद्र ८।४।४२५)

(१४८)

सुमिरिज्जइ तं वल्लहउ जं वीसरइ मणाउं।
जहिं पुणु सुमरणु जाउ गउ तहो नेहहो कइ नाउं॥

सुमरा जाय, वह, वल्लभ, जो, विसरैं, मन से, जिसका, पुनि सुमरन, यदि, गया उस (का), नेह का, क्या नाम? । जिसे भूले उसे तो याद करे और जिसका स्मरण

चला जाय (भूल जाय) उनके नेह का नाम ही क्या ? कुछ नहीं । जिसका नेह है वह कभी भूला नही जा सकता और उसके स्मरण की जरूरत नहीं । सुमरिज्जइ—सुमरीजै, मणाउ—मनाक (दोधकवृत्ति), मन ने, जाउ—यदि, कइ नाउ—काई नाव ? (जयपुरी) ।

(१४६)

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइं ।
मूलि विणट्ठइ तुंविणिहे अवसे सुक्कइ पण्णइ ॥

जीभ-इद्रिय को, हे नायक ! वश करो, जिसके, अधीन अन्य, (इन्द्रिय) (हैं) मूल (मे) विनष्ट (मे) होने पर, तूंबी के, अवश्य सूखै, पान। मूल विणट्ठइ—भावलक्षण, तुंविणि—तुंविनी, तूंबी, सुकइ—सुकै ।

(१५०)

एक्कसि सीलकलंकिअहं देज्जहि पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥

एक बार शीलकलंकित (करनेवालो) को, दिए जाते हैं प्रायश्चित्त., जो, पुनि, खडित करै (शील को), अनुदिवस, उसके, प्रायश्चित्त से, क्या ? एक्कसि एक बार के अर्थ मे, एकश., मारवाडी एकरश्या, एकश्या, देज्जहिं—दीजै, खण्डइ—खण्डै, अणुदिहहु—दिन दिन ।

(१५१)

विरहानलजालकरालिअउ पहिउ पन्थि ज दिट्ठउ ।
त मेलवि सव्वहि पन्थिअहि सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥

विरहानल ज्वालाओ से करालित, पथिक, पंथ मे, जो, दीठा, उसे मिलकर सब (ने), पथियो ने, सो जी किया, अँगीठा। विरह-ताप की अधिकता की अतिशयोक्ति मिलाओ (१०६) । दोधकवृत्ति शायद यह अर्थ करती है कि पथिको ने उसका, अग्नि सस्कार कर दिया 'अग्निष्ठ. कृत' । मेलवि—मिलकर, या रखकर । अग्गिट्ठउ—अँगीठो, स्त्री० अँगीठी, अनुस्वार के लिये देखो पत्रिका भाग २, पृ० ४० ।

(१५२)

सामिपसाउ सलज्जु पिउ सीमासंधिहिं वासु ।
पेक्खिवि बाहुबलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥

स्वामी (का) प्रसाद, सलज्ज, पिय, सीमासधि मे, वास, पेखकर, वाहुवलोल्ललित (पिय को), नायिका, छोडती है, नि श्वास । राजा की कृपा जिससे वह कभी छुट्टी न दे और कठिन कामो पर ही भेजे, पिया सकोची कि काम के लिये नाही न करे न छुट्टी माँगे, रहना सीमा पर जहाँ नित नए झगडे हो, और वाहुवल से गर्वीला पिय कि आगे होकर झगडा मोल ले—वेचारे इतने कारणो से विरह के अत का सभव, जानकर उसासें भरती है। वाहुवलुल्लडा वाहु + वल + उल्लल, उल्लट, या 'वाहु' का विशेषण 'वलुल्लड' वलदर्प से भरे वाहु (पिय को, देखकर), धरण–देखो (१, ७०) मेल्लइ—रक्खै, छोडै, मेलै ।

(१५३)

पहिआ दिठ्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त ।
असूसासेहिं कञ्चुआ तितुव्वाण करन्त ॥

पथिक! दीठी, गोरी? (हाँ) दीठी, मग (को), देखती (हुई), आँसू (और) उसासो से, कंचुक को, गीला, सूखा करती (हुई)। आँसुओ से गीला और उसासो से सूखा, (८०) या तितुव्वाण—ततूद्वान, ताना वाना, आँसुओ का ताना; उसासो का वाना। गोरडौ–देखो (८२, १२३), 'डी' (१४०), निअन्त–देखती, तितुव्वाण–तीमा, तिमित = गीला, देखो तिम्मइ (५११)।

(१५४)

पिउ आइउ सुअ वत्तडी–झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धुलडि आवि त दिट्ठ ॥

पिय, आयो, (इस) शुभ, वार्ता, (की) ध्वनि, कान मे, पैठी उस (की), विरह की, भागने (की), धूल भी, न, दीठी। ऐसा भागा कि खोज तक न मिले, लगोटी भी हाथ न आई। वत्तडी, कन्नडइ धूलडिआ—अव 'डी' या 'ड' पर लिखना व्यर्थ है। नासन्त–नश्यत् (स०) नष्ट होना, अदर्शन होना, भागना, पजावी न्हस्–भागना।

(१५५)

सदेसें काइ तुहारेण ज सगहो न मिलिज्जइ ।
सुइणन्तरि पिएं पाढिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ ॥

सदेसे से, क्या, तुम्हारे से, जो, सग से, न, मिलीजै, स्वप्नातर मे, पिए (हुए) से, पानी से, पिय ! प्यास, क्या छीजै ? केवल सदेसा से क्या ?

(१५६)

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ।
पिअपब्भट्ठ्व गोरडी निच्चल कहिंवि न ठाइ ।।

इधर तिधर, द्वार (और) घर मे, लक्ष्मी, विसस्थुल, धाय (=दौड़ी फिरती है), प्रिय प्रभ्रष्ट, इव, गोरी, निश्चल, कही भी, न, ठवें (स्थित होती, टिकती है) । लक्ष्मी की चचलता की वियोगिनी की बौखलाहट से उपमा। वारि घरि—घर द्वार, घर वार, पब्भट्ट—प्रभ्रष्ट (सं०) भटकी, चूकी।

(१५७)

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रं मइं जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ ।
महु करिएव्वउं किंपि णवि मरिएव्वउँ पर देज्जइ ।।

यह, ग्रहण करके, जो, मैं, (=मुझसे) यदि, पिव, उवारा जाय, (तो) मेरा, कर्तव्य, कुछ, भी नही, (रहे) मरना, पर, दिया जाय । यदि यह लेकर मेरे पिय का उद्धार हो जाय तो मेरा कर्तव्य कोई बाकी नही रहता मैं चाहे अपना मरण दे दूँ (मरण भी सह लूँ) । दोधकवृत्ति के अनुसार 'किसी सिद्ध पुरुष ने विद्यासिद्धि के लिये धन आदि देकर नायिका से बदले मे पति माँगा तो वह कहती है कि यदि यह लेकर पति उद्धर्त्यते-त्यज्यते-बदले मे दिया जाय तो मेरा कर्तव्य कुछ नही है केवल मरना दे सकती हूँ' (चाहे मेरे प्राण ले लो पति को न दूँगी) गृण्हेप्पिणु—पूर्वकालिक, ध्र—देखो (४१), उव्वारिज्जइ (१) उवारा जाय, (२) वटाया जाय ? देखो ऊपर टीका, करिएव्वउ, मरिएव्वउ—करवो, मरवो (राज०), करवुं, मरवुं (गुजराती), कर्तव्य, मर्तव्य (स०) ।

(१५८)

देसुच्चाडणु सिहिकढणु घणकुट्टणु ज लोइ ।
मजिट्ठए अइरत्तिए सव्व सहेव्वउ होइ ।।

देश (से) उचाटा जाना, शिखि (आग) पर कढना (काढा जाना), घना कुटना, जो लोक मे (अति दुखदायक भयकर दड है वे) मंजीठ ने,

अनिग्क्ति से, सव, महना, होग्र । रक्त = (१) लाल (२) अनुराग मे पगा हुआ । मजीठ देस निकाला, आग पर कढना, घनो कुटाई सहती है, यह 'रक्त' होने का फल है। सहेव्वउँ—सहवो, सहितव्य।

(१५९)

सोएवा पर वारिआ पुप्फवईहि समाणु ।
जग्गेवा पुणु को धरइ जइ सो वेउ पमाणु ॥

सोना, पर, वारित किया गया (है), पुष्पवतियो के साथ, जागने को, पुनि कौन, धरता हैं (पकडता) है, यदि, सो, वेद, प्रमाण (है)। किसी शोहदे की उक्ति। जिस वेद मे साथ सोने की मनाई है यदि वही प्रमाण हो तो साथ जागने' को कौन रोकता है? सोएवा जागेवा—सोवो, जागवो, वारिआ—वारित, पुप्फवई—पुष्पवती, रजस्वला, पुष्प का उपचार हिंदी तक आया है क्योंकि प्रथम रजोदर्शन को फुलेरा कहते हैं। मिलाओ गाथा—

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्ज होउ सन्नाम ।
एइ णिमज्जसु पासे पुप्फइ ण एइ मे णिद्दा ॥

(सरस्वती कठाभरण ३२९)

[लोग खिझें, खिझें, वचनीय (निंदा) हो तो होने दो, आ, पास लेट जा, पुष्पवती! मुझे नीद नही आती।]

(१६०)

हिअडा जइ वेरिअ घणा तो कि अब्भि चडाहु ।
अम्हाहि वे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहु ॥

हे हिय; यदि, वैरी, घने (है) तो, क्या आकाश मे चढें? हमारे (भी) तो, दो, हाथ (है), यदि, पुन मारकर, मरें। अब्भि—अभ्र मे शत्रुओ से बचने के लिये धरती छोड आकाश को चले जायँ क्या? दो हाथ तो है, मारकर मरेंगे।

(१६१)

रक्खइ सो विसहारिणी वे कर चुम्बिवि जीउ ।
पडिबिंबिअमुजालु जलु जेहि अडोहिउ जीउ ॥

रक्खै वह विप (=पानी) हारिणी, दो, कर, चूमकर, जीव (अपना), प्रतिबिंबित-मूंज-वाला-जल, जिनसे, पिलाया, पिया को। कही ताल के तीर पर मिलन हुआ था। किनारे पर मूंज उग रही थी। उसकी पानी मे परछाई पड रही थी। पिया ने उसके हाथो से जल पिया था, फिर मिलना नही हुआ। नायिका उन हाथो को चूम चूमकर ही जीवित रह रही है। विस—जल सस्कृत मे भी अप्रयुक्त है, यदि विस (कमल की नाल) लानेवाली अर्थ करें तो अच्छा हो क्योकि कमलनाल का मूल वहाँ रहता है जहाँ जल मे मुज का प्रतिबिंब पडा था इसलिये कमलनाल तोडते समय सब स्मरण आता रहता है। वे—दोधकवृत्ति कदाचित् 'जेहि' के नित्य-स्वध से इसे वर्तमान हिंदी का 'वे' मानती जान पडती है, चुम्बिवि = पूर्वकालिक मुजालु—'आला' प्रत्यय 'वाला' अर्थ मे अडोहिउ—पिया, पिलाया।

(१६२)

वाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवँइ को दोसु।
हिअअट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुज सरोसु॥

देखो प्रवधचितामणि वाला लेख (पत्रिका भाग २, पृ० ४४)। दोधकवृत्ति 'मुजो भूपति सरोप' कहकर यही अर्थ करती है कि नायिका नायक मुज मे कह रही है।

(१६३)

जेप्पि असेसु कसायवलु देप्पिणु अभउ जयस्सु।
लेवि महव्वय सिवु लहहि झाएविणु तत्तस्सु॥

जीतकर, अशेप, कपायवल, देकर, अभय, जगत का (को) लेकर, महाव्रत शिव, पाते है, ध्यान कर, तत्व का (को)। जेप्पि, देप्पिणु लेवि, झाएविणु—पूर्वकालिक, कसाय—कपाय, मल, क्रोधादि, सिव—मोक्षपद।

(१६४)

देव दुक्करु निअय धणु करण न तउ पडिहाइ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणहँ मणु पर भुञ्जणहि न जाइ॥

देना, दुष्कर, निजक-धन, करना, नही, तप, (प्रति) भाता, यो, सुख, भोगने का, मन (है), पर, भोगने को, (= भोगा) न, जाता। देव—(पाठा०

देवे) देवो, देवु (गुज०), भुञ्जणु–भोजन, भुञ्जणहि न जाइ–'भोगा नही जाता' भोक्तु न याति (दोधकवृत्ति) नही।

(१६५)

जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि ।
विणु सन्ते तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणेवि ॥

जीतना, त्यागना, सकल, धरा को, लेना, तप, पालना, विना, शाति (नाथ) तीर्थंकर से (= को,), कौन सकै, भुवन मे भी ? जेप्पि, चएप्पिणु, लेविणु, पालेवि, कियार्था क्रिया स० तुम। ये रूप पूर्वकालिक क्रिया के रूपो से मिलते हैं।

(१६६)

गप्पिणु वाणारसिहि नर अह उज्जेणिहि गप्पि।
मुआ परावहि परमपउ दिव्वन्तरहि म जम्पि ॥

जाकर, वनारस मे, नर, अथ (वा) उज्जयिनी मे, जाकर, मुए (लोग), प्राप्त होते है, परम पद, दूसरे स्वर्गो को (= की वात), मत कह। गंप्पिण, गप्पि—पूर्वकालिक, वाणारसी या वाराणसी–देखो ना० प्र० पत्रिका भाग २, पृ० २२७–८, परावहि—प्रापैं, दिव्वतर–अन्य दिव, दूमरे लोक, परमपद ही मिल जाता है तो और स्वर्ग आदि की वात ही क्या, तीर्थान्तर (!) (दो० वृ०), जप–जल्प (स०), इसमे 'इ' केवल छद के लिये लगा है ।

(१६७)

गग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास गउ सो जमलोउ जिणेप्पि ॥

गगा, जाकर, जो, मुए (मरे) जो, शिवतीर्थ (काशी), जाकर, खेलता है, त्रिदशावास, गया, वह जमलोक जीतकर। गमेप्पिणु, गमेप्पि, जिणेप्पि जाकर जीतकर, किलदि–क्रीडति (स०), तिदसावाश–त्रिदश (देव) आवास, गउ–गयो।

(१६८)

रवि अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्ड मुणालियहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥

रवि (के) अस्तमन मे, समाकुल ने, कठ मे दिया, न, छीना (=काटा, दाँतो से) चक्र (वाक) ने, खड, मृणालिका का नाई जीवार्गला दीना। चक्रवाक ने मृणाल का कौर मुँह मे लिया कि सूर्यास्त हो गया। वियोग का समय आया। वेचारे ने कौर काटा भी नहीं, मुँह मे डाल लिया मानो वियोग मे जीव न निकल जाय इसलिये अर्गला, (आगल, अरगडा) दे दी। अत्थमणि—देखो पत्रिका भाग २, पृ० ५६। विइण्णु–वितीर्ण, चक्के–कर्मवाच्य का कर्ता जैसे मैं तैं (मइ, तइ,) 'ने' वृथा है, पजावी राजें=राजा ने। नउ–उपमावाचक देखो (५), जीवग्गलु=जीव+ अर्गला। सस्कृत के इस श्लोक का भाव है—

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने वद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु जातविरहाशका विलोक्य प्रियाम्।
चक्राह्वेन वियोगिना विलसता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छत॥
—सुभाषितावलि स० ३४८३, पीटर्सन।

(१६६)

वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ।
वल्लहविरह महादहहो थाह गवेसइ नाइ॥

वलयावलि (के) निपतन (के) भय से, नायिका, ऊर्ध्वभुज, जाय (जाती है), वल्लभ (के) विरह (रूपी) महादह की, थाह, ढूँढती है, मानो। वियोग मे दुबली हो गई है। चूडियाँ गिर न जायँ इसलिये बाहें ऊँची करके जाती है। मानो प्रिय के विरह के महादह की थाह ढूंढ रही है, नही पाती। जो गहरे पानी की थाह लेना चाहता है वह सिर पर हाथ ऊँचे कर लेता है कि पानी सिर से ऊँचा है। उद्धब्भुअ–ऊर्द्ध+भुज, धण–देखो (१), दह (स०) ह्रद का व्यत्यय मिलाओ कालीदह, गवेसइ–सं० गवेषयति, नाइ—नाई, देखो (५)।

(१७०)

पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो दीहरनयण सलोणु।
नावइ गुरुमच्छरभरिउ जलणि पवीसइ लोणु॥

पेखकर, मुंह, जिनवर का, दीर्घ नयन (वाला) सलोना, मानो गुरुमत्सरभरित, ज्वलन (आग) मे, प्रविशै, लावण्य ! इतना सुदर मुख

है कि लावण्य, मत्सर से भरा, आग मे कूद पडता है। सुदरता पर दीठ न लग जाय इसलिये 'राई नौन' आग मे डालते है। लोण—देखो (११५), नावइ–मानो, नाई। देखो (५)।

(१७१)

चम्पयकुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ वइट्ठउ॥
[हिंदी-सम = चंपक कुसुमहि माँझ सहि भँवर पैठो॥
सोहै इद्रनील जनु कन (क) हिं वैठो॥]

(१७२)

अब्भा लग्गा डुङ्गरहिं पहिउ रडन्तउ जाइ।
जो एहा गिरिगिलणमणु सो किं धणहे धणाइ॥

अभ्र (= मेघ), लागे, डूँगरो पर, पथिक, रटता हुआ, जाय (= जाता है कि), जो, ऐसा, गिरियो (को) (नि) गलने (के) मन (वाला) (मेघ है), वह, क्या, नायिका को, बचावेगा? पहाडो पर मेघ देखकर वियोगी समझता है कि ये पहाडो को निगलेंगे, वह पुकार उठता है कि जिनका ऐसा हौसला है वे क्या बेचारी वियोगिनी को छोडेंगे?

अब्भा-अभ्र, रडन्तहु –रडन्तो, पजाबी रडयाना = पुकारना, धण—देखो (१), धणाइ–दोधकवृत्ति मे 'धनानि इच्छति' = धन चाहता है।। धण = धनी–स्वामी, उससे नामधातु धणाइ = धनाता है, 'धणी' पन करता है (आचार क्विप्) अर्थात् स्वामित्व दिखाता, रक्षा करता, बचाता है। राजस्थानी धर्पणियाप—धणीपन स्वामित्व।

(१७३)

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु।
तोवि कटारइ हत्थडउ वलि किज्जउँ कतस्सु॥

पाँव मे, (वि) लगी, आँत सिर, ल्हसा (झुक गया) कधे पर, तो भी, कटार पर, हाथ, वलि, की जाऊँ, कत की। वीरता की पराकाष्ठा। ल्हसिउ–ल्हसियो, हत्थडउ–हत्थडो, वलि किज्जउँ–वलि जाऊँ, किज्जउँ—कीजों; खन्धस्सु–कधे का = पर।

(१७४)

सिरि चडिआ खन्ति प्फलइ पुणु डालइ मोडन्ति ।
तो वि महद्दुम सउणाह अवराहिउ न करन्ति ॥

सिर पर, चढे, खाते हैं, फलो को, पुनि, डालो को मोडते (तोडते) हैं, तो, भी, महाद्रुम शकुनो (पक्षियो) को, अपराधी न, करते है। महापुरुषो की क्षमा। मोर्डान्ति—स० मोटयन्ति, तोडना फोडना । 'शकुनियो का अपराध (विगाड) नही करते' (दोधकवृत्ति) ।

(१७५)

सीसु सेहरु खणु विणिम्मविदु खणु कठि पालम्बु किदु, रदिए विहिदु खणु मुडमालिये ज पणएण त गमन कुसुमदामकोदण्डु कामहो ।

इस गद्य मे इस वात का उदाहरण दिया है कि अपभ्रश मे शौरसेनी की तरह कुछ काम होता है । और कुछ खड और गाथा इसलिये दिए गए हैं कि अपभ्रश मे व्यत्यय और कई प्रयोग सस्कृत के से होते है। उन अवतरणो को यहाँ देने का कोई प्रयोजन नही । इस गद्य का अर्थ यह है—सीस पर शेखर क्षण (भर के लिये) विनिर्मित क्षण (मे) कठ मे प्रालम्ब (लबी माला) कृत, रति ने विहित क्षण मे मुडमालिका मे जो प्रणय मे, उसे नमो कुसुमदाम-कोदण्ड को, काम के (को) । काम का फूल-धनुष कभी रति अपना सीसफूल वनाती है कभी गले मे लटकाती है कभी मूँड पर माला की तरह पहनती है, उसे प्रणाम करो । सेहरु—शेखर, सेहरा, विडिम्म-विदु—स० विनिर्मापित, पणएण—प्रणय से, इसे दोधकवृत्ति 'नमहु' का विशेषण मानती है ।

हेमचद्र के व्याकरण के इस अश मे जो शब्द उदाहरणवत् दिए हैं उनका यहाँ उल्लेख निष्प्रयोजन है । जो वाक्यखड आए हैं उनमे से कुछ के विचार के लिये पृथक् लेख का उपयोग किया जायगा ।

———

परिशिष्ट

ऊपर पत्रिका भाग २, पृ० ४६ तथा १५० मे यह भ्रम से लिखा गया है कि 'काग्र वि विरह करालिअँहे' आदि दोहा हेमचद्र मे है। यह हेमचद्र मे नही है। उस दोहे का अर्थ स्पष्ट नही था। उसका ठीक अर्थ करने का यत्न किया जाता है।

मूल।

कारण वि यहे
———विरह करालि —(यइ) उड्डाविअउ-वराउ।
कीई वि इ

सहि
——अच्चब्भुउ दिट्ठ मइ कठि विलुल्लइ काऊ।
इउ

विरहाकुलिता कौए को उडाया करती है कि हमारा पति आज आता हो तो उड जा। जहाँ कई विरहाकुलिता हो वहाँ कौए की शामत आ जाय। इधर गया तो एक उडावे, उधर गया तो दूसरी, कही बैठने को ठौर ही नही पावे। वेचारा कण्ट मे अधर मे झूल रहा है कि किधर जाऊँ। कुछ का (—से), विरहकरालिताओ का (=से), पै, उडाया गया, वराक, हे सखि या यह, अत्यद्भुत, देखा, मै (ने), कण्ट मे, विलुलता है, काक। काग्र—सवध बहुवचन, कठि—कट्ठि (देखो पत्रिका भाग २, पृ० ४०) कण्ट मे, विलुल्लइ—मारा मारा फिरता है, मँडराता है, काउ—कौआ। पहला अर्थ शास्त्री तथा टानी के भरोसे पर किया था। इस नए अर्थ के मार्गदर्शन का उपकार वावू जगन्नाथ दास (रत्नाकर) का है।